Chap-2



द्वितीय अध्याय

"युगगत सांस्कृतिक पुनर्जागरण"

## युगगत सांस्कृतिक पुनर्जागरण

भारतीय इतिहास में उन्नीसवीं शताब्दी का आरम्भ संक्रान्तियुग के उन्मेष की पूर्व-पीठिका का निर्माण करता है। यह वह युग है जिसमें देशी राज्य-शक्तियाँ क्रमश: क्षीण होती जा रही थीं और दूसरी ओर यूरोपीय, जातियों का राजनीतिक प्रभुत्व बढ़ता जा रहा था। भारतीय जनता में किसी आकांक्षा पूर्ण जीवन का कोई उन्मेष दृष्टिगोचर नहीं होता था। मध्यकालीन सामाजिक विकृतियाँ तथा अर्थ- व्यवस्था इस काल खण्ड में वर्तमान थीं, किन्तु उसमें क्रमश: विकृतियाँ बढ़ती जा रही थी। भारतीय राज्य शक्तियों के पारस्परिक संघर्ष से जन साधारण में निराशा की व्याप्ति के साथ-साथ ब्रिटिश प्रभुत्व का विस्तार हो चला था। इस शताब्दी के मध्य तक आते-आते अँग्रेज एक बहुत बड़े क्षेत्र के स्वामी बनने के साथ ही शेष क्षेत्रों अर्थात् देशी रियासतों में भी अपने प्रभुत्व को प्रतिष्ठित कर चुके थे। इस प्रकार राजनीतिक शक्ति की वृद्धि के अनन्तर अँग्रेज कूटनीतिज्ञों ने भारतीय समाज में विद्यमान आकांक्षा शून्यता, सामाजिक विकृति तथा हताश स्थिति का पूरा-पूरा लाभ उठाकर उस पर अपनी सांस्कृतिक विजय तथा मानसिक पराधीनता लादने का भरपूर प्रयास किया। ईसाई मिशनरियों द्वारा ईसाई धर्म का प्रचार तथा लार्ड मैकाले द्वारा अँग्रेजी शिक्षा का सूत्रपात उनके उक्त संकल्प का द्योतन करता है। इस नवजागरण की पृष्ठभूमि के रूप में जनमानस में आधुनिकता के विकास का तथ्य भी यहाँ विचारणीय है।

यह सर्वविदित तथ्य है कि सन् 1757 ई0 के प्लासी के युद्ध की विजय के पश्चात् भारत में एक प्रकार से ब्रिटिश प्रभुत्व का आरम्भ हुआ। जिसकी एक प्रकार से पूर्ण परिणति लार्ड डालहौजी द्वारा सन् 1856 ई0 के आसपास हुई। अपनी शक्ति की सुदृढ़ प्रतिष्ठा में उन्होंने जिस नीति का आश्रय लिया था उसका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। पर्याप्त भू-भाग में राजशक्ति/प्रतिष्ठा के पश्चात् उन्होंने यहाँ के जनमानस को अपने अधीन करने के प्रयास में अँग्रेजी शिक्षा-प्रणाली

तथा ईसाई धर्म के प्रचार-प्रसार की जो नीति अपनायी थी उस पर विस्तार से आगे विचार किया जायेगा । उन्नीसवीं सदी के प्रारंभ से भारत में नये उद्योगों की प्रतिष्ठा हुई । भारत में सर्वप्रथम कपड़े के औद्योगिक प्रतिष्ठान सन् 1815 ई0 तथा 1818 ई0 में भड़ौंच तथा कलकत्ता में आरम्भ हुए । तदनन्तर बम्बई, अहमदाबाद में कारखाने खुले । उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त तक इन उद्योगों की संख्या सौ से ऊपर हो गयी। नयी शिक्षा-नीति, यूरोपीय सम्पर्क, ईसाई मिशनरियों का धर्म-प्रचार, युगीन बौद्धिकता का क्रमश: संक्रमण तथा नये-नये उद्योगों की प्रतिष्ठा आदि ने मध्यम वर्ग के विकास के साथ-साथ भारतीयों में एक नयी जीवन दृष्टि का विकास किया । उपर्युक्त शिक्षा-नीति के कारण भारतीयों में हीन-भावना का एक सीमा तक अवश्य विकास हुआ, परन्तु अंग्रेजों की अपेक्षा के विरुद्ध वे अपनी ह्रासावस्था से परिचित होने लगे तथा उनमें स्वाधीनता की चेतना का स्पन्दन होने लगा । प्रारंभ में अंग्रेजी शिक्षा व संस्कृति से भारतीय इतने अधिक प्रभावित हुए कि यह प्रतीत होने लगा भारतीय संस्कृति अब नष्टप्राय हो चली है, किन्तु एक बार पुन: भारतीयों ने अपनी संस्कृति को डूबने से बचा लिया और उसे पुन: जीवित रखने के महत् प्रयास किये । डा0 एल॰पी॰ शर्मा का यह कथन उचित प्रतीत होता है कि-

'आरम्भ के तूफान के पश्चात जब शांति हुई तो भारतीयों ने अपने धर्म, समाज और संस्कृति को नवीन विचारों से परिवर्तित किया और भारतीय संस्कृति का ही आधुनिकीकरण किया उसे पश्चिमी शिक्षा के मुकाबले ही नहीं बल्कि उससे भी श्रेष्ठ साबित करने का प्रयत्न किया और इस प्रयत्न से भारत के सभी क्षेत्रों में न केवल परिवर्तन ही हुए बल्कि प्रगति भी हुई ।[1]

ब्रिटिश राज्य-शक्ति के परिणामस्वरूप भारतीयों में आधुनिकता की जो प्रवृत्ति आयी वह धीरे-धीरे विकसित हुई। अंग्रेजी-सम्पर्क के कारण देश की राजनीतिक, आर्थिक, धर्म, समाज, शिक्षा आदि में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुए, जिससे भारतीय आधुनिक-प्रवृत्ति की ओर अग्रसर हो सके । व्यवस्था के परिवर्तन में काफी समय

लाता है । अंग्रेजों से पूर्व देश में सामन्तवादी व्यवस्था थी। इसको परिवर्तित करने में सांस्कृतिक जागरण का महत्त्वपूर्ण योगदान है । यह जागरण भारत में धर्म के द्वारा ही आया । प्रबुद्ध विद्वानों के अथक परिश्रम के परिणाम स्वरूप देश में कई क्षेत्रों में उन्नति हुई। उन्होंने धर्म, समाज, राजनीति और शिक्षा में युगान्तकारी परिवर्तन करने के प्रयास किये, जिसके कारण मध्यम वर्ग का विकास, वैज्ञानिक दृष्टि-कोण औद्योगीकरण की प्रवृत्ति आदि में आधुनिकता का स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है ।

## आधारभूमि :

यह लक्ष्य किया जा चुका है कि यहां के सामाजिक परिप्रेक्ष्य में रहकर अंग्रेजों ने किस प्रकार उससे लाभ उठाना चाहा । भारतीय धर्म अपनी सुप्तावस्था में था और जड़-मान्यताओं, रूढ़ियों तथा परम्पराओं से घिरा हुआ भारतीय समाज अपने ही बंधनों में छटपटा रहा था । ईसाई मिशनरियों के आ जाने से देश में नयी चेतना की लहर दौड़ी, किन्तु उक्त विकृति के बीच वह यहां के समाज के लिए घातक भी सिद्ध हुई । वे सामन्तवादी व्यवस्था से त्रस्त भारतीय जनता को आर्थिक सहायता देकर ईसाई बनाने में सफल होने के साथ ही उसके हृदय में अपने धर्म तथा सांस्कृतिक परम्परा के प्रति वितृष्णा के भाव भर रहे थे । यद्यपि इनका उद्देश्य ईसाई धर्म का प्रचार-प्रसार था तथापि प्रबुद्ध भारतीय मानस ने सामाजिक जीवन की विकृतियों को ईसाई मिशनरियों के उक्त प्रचार के प्रकाश में देखा । ईसाई मिशनरी स्वधर्म-मोह के कारण ही भारतीय समाज की विकृतियों, मान्यताओं और रूढ़ियों को अतिशयोक्तिपूर्ण ढंग से प्रस्तुत कर रहे थे, जिसे प्रबुद्ध भारतीय मनीषियों ने भली-भाँति पहचाना । उन्होंने वैज्ञानिक चिंतन के परिप्रेक्ष्य में जड़ीभूत सामाजिक मान्यताओं एवं रूढ़ियों का पुनर्मूल्यांकन करना आवश्यक समझा । फलत: दो संस्कृतियों के मिलन

से भारतीय जीवन में नई चेतना एक नये स्पन्दन के साथ उभरने लगी और अतीत की सांस्कृतिक विरासत को युगबोध के सन्दर्भ में विवेचित किया गया। [2]उपर्युक्त परिस्थिति के परिणाम स्वरूप पुराने परंपरागत जीवन-मूल्य टूटने लगे और उक्त नयी चेतना के संचार ने नये मूल्यों के विकास की उपयुक्त भूमिका का निर्माण किया। इस समस्त चेतना को भारतीय संस्कृति का पुनर्जागरण या पुनरुत्थान कहा जा सकता है, जिसके कारण रूप में चार प्रधान परिस्थितियाँ क्रियाशील दृष्टिगोचर होती हैं -

१- ब्रिटिश साम्राज्य की शिक्षा नीति और मध्यम-वर्ग का विकास
२- यूरोपीय सम्पर्क के परिणाम स्वरूप समाज-सुधार की नयी चेतना
३- मिशनरियों का धर्म प्रचार तथा उसकी प्रतिक्रिया।
४- प्राचीन धार्मिक चेतना का नये परिप्रेक्ष्य में जागरण।

भारतीयों की शिक्षा नीति के विषय में एक लम्बे समय तक अंग्रेजी शासन में विवाद चलता रहा। अंग्रेजी को शिक्षा का माध्यम बनाया जाय या भारतीय भाषाओं के माध्यम से शिक्षा दी जाय, इसी बात पर ओरिएण्टलिस्ट और एंग्लीसिस्ट दो पक्ष उभरकर सामने आये, किन्तु सन् १८३५ ई० में लार्ड मैकाले ने अंग्रेजी भाषा को शिक्षा का माध्यम बनाने के पक्ष में अपने तर्क दिये। उसके तर्क पर सन् १८३६ ई० में अंग्रेजी भाषा शिक्षा का माध्यम स्वीकार कर ली गयी। [3] मैकाले उन व्यक्तियों में से था जो पूर्वी संस्कृति को हीन समझता था और उसका उद्देश्य ऐसे व्यक्तियों के निर्माण का था जो अपने चिंतन, रुचि तथा स्वभाव से अंग्रेज हों[4], जवाहरलाल नेहरू ने अपनी पुस्तक `डिस्कवरी आफ इंडिया` में लिखा है कि-`अंग्रेजों की शिक्षा नीति का उद्देश्य क्लर्कों की उत्पत्ति था, क्योंकि वह इतनी बड़ी संख्या में इंगलैण्ड से मनुष्य नहीं ला सकते थे, परन्तु इस शिक्षा ने ही भारतीयों के मस्तिष्क में विचारों के दरवाजे और खिड़कियाँ खोलने में सहायता की। [5]

ज्ञान के क्षेत्र में स्वतंत्र इच्छा और प्रवृत्ति का निर्माण अंग्रेजी भाषा की ही देन है। राष्ट्रीयता, समानता, समाजवाद, जनतंत्र आदि विचार हमें पश्चिम से प्राप्त हुए । इसका प्रभाव भारत के जनसामान्य की प्रत्येक परिस्थिति पर परिलक्षित होता है । जिनसे पुरानी विचारधाराएं और परम्परायें टूट गयीं और आधुनिक भारत की नींव पड़ी । वैज्ञानिक प्रगति और औद्योगीकरण का विकास हुआ ।

द्वितीय उल्लेखनीय तथ्य यह है कि अंग्रेजी साम्राज्यवाद की छाया में पूंजीवाद का विकास हुआ, जिसके साथ मध्यम वर्ग उभरकर सामने आया । सामन्ती अर्थ-व्यवस्था के नष्ट हो जाने से कच्चा माल पैदा करने वाले और छोटे उत्पादकों के बीच श्रम-विभाजन की स्थिति आ जाने, और उद्योगियों के गाँवों से नगरों में एकत्र होने के कारण मध्यम वर्ग की शुरुआत हुई ।[6] मध्यम वर्ग एक ओर परम्परावादी था दूसरी ओर आधुनिकता का भी पुजारी था । बड़ी-बड़ी आशाओं को लेकर भी परिस्थितियों के झंझावात के कारण इसकी कामनाएँ पूरी नहीं हो पाती थीं। मध्यमवर्ग में नवयुवकों की संख्या अधिक थी। दोषयुक्त शिक्षा प्रणाली होने से ये औद्योगिक तथा व्यावसायिक जीवन के लिए योग्य न थे, जो उच्च नौकरियों में जा नहीं सकते थे और छोटी नौकरियों में वेतन कम था । फलतः मध्यमवर्गीय शिक्षित वर्ग के समक्ष बेकारी तथा अभाव की समस्या उग्र रूप लेकर खड़ी हो गयी और उनमें आर्थिक असंतोष फैल गया। राजनीतिक असंतोष तथा राष्ट्रीय चेतना में यही असन्तोष परिवर्तित हुआ । आगे चलकर इसी वर्ग ने देश में नवीन चेतना का प्रसारण किया[7] । सामाजिक और धार्मिक सुधारक इसी वर्ग के हुए । उसके द्वारा इन प्रयासों को व्यावहारिक स्वरूप प्रदान किया गया । भारतीय समाज में जो भी परिवर्तन हम आधुनिक समय में पाते हैं, उसको नेतृत्व प्रदान करने का श्रेय इसी वर्ग को है ।[8] अतः यह स्पष्ट है कि नवीन मध्यम-वर्ग ने भारतीय समाज और राजनीति को ही नहीं बल्कि भारतीय जीवन के सभी क्षेत्रों को गम्भीरता से प्रभावित किया है ।

अंग्रेजी सभ्यता, संस्कृति और साहित्य ने अनेक सामाजिक सुधारों को जन्म दिया और सांस्कृतिक पुनर्जागरण की भूमिका प्रस्तुत की। अंग्रेजों के सम्पर्क के तथा बहुत कुछ अंग्रेजी राज्य की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप १९ वीं शताब्दी के प्रारंभ से ही इस देश की संस्कृति में एक नया मोड़ उपस्थित हुआ।[९] अंग्रेजी शिक्षा के प्रसार से शिक्षित भारतीयों का दृष्टिकोण भी उन्हीं जैसा बन गया।[१०] इंगलैण्ड में अनेक धार्मिक सुधार होते रहे हैं, यह देखकर भारतीयों के अन्तःकरण में भी धर्म सुधार की भावना जागृत हुई। भारत में अंग्रेजों का राज्य प्रतिष्ठित होने के पूर्व से ही ईसाई मत का प्रचार प्रारम्भ हो गया था, परन्तु उनकी राज्य शक्ति की प्रतिष्ठा से ईसाई पादरियों का कार्य अधिक सुगम हो गया। भारतीय जनता इस प्रचार से धीरे-धीरे अपने धर्म को तथ्यहीन समझने लगी थी। उसमें सर्वत्र नैतिक बल का अभाव, सामाजिक पतन तथा पराजित मनोवृत्ति का साम्राज्य छाया हुआ दिखता था। ऐसी परिस्थिति में यदि हम इस युग को धार्मिक साधना के इतिहास का अन्धायुग कहें तो अनुचित न होगा।[११] ईसाई धर्म के प्रचारक बंगाल में हिन्दू-धर्म पर तीव्र प्रहार करने लगे थे और अपनी छिद्रान्वेषी मनोवृत्ति से हिन्दू धर्म की टीका करने का बीड़ा उठाये हुए थे।[१२] ईर्ष्यालु मिशनरियों ने हिन्दू समाज के रीति-रिवाजों पर उंगली उठाने में यथासाध्य कोई कसर नहीं उठा रखी। उनके विद्यालयों में शिक्षा के साथ-साथ यह भी पढ़ाया जाता था कि केवल ईसाई मत ही सद्धर्म है। सामाजिक दृष्टि से एक ओर देश पुराने प्रगति-विरोधों, संस्कारों, रीति-रिवाजों, परम्पराओं और रूढ़ियों से मुक्ति पाने के लिए करवट ले रहा था तो दूसरी ओर अंग्रेजी साम्राज्य जान-बूझकर देश को सामाजिक दृष्टि से पिछड़ा रखना चाहता था। तीसरे अंग्रेजी सभ्यता और संस्कृति का सम्पर्क देशवासियों के जीवन में एक विकृति का संचार कर रहा था।[१३] ऐसी विषम परिस्थिति में प्रायः सभी सामाजिक नेताओं को धर्म के तत्कालीन स्वरूप में सुधार की आवश्यकता प्रतीत हो रही थी। अतएव, हिन्दू समाज के विचारशील लोगों ने यह देखकर कि नवीन

परिस्थिति के साथ प्राचीन धर्म कल्पना और आचार मेल नहीं खाते, धार्मिक और सामाजिक सुधारों का सूत्रपात प्रारम्भ कर दिया । जिस पर विस्तार पूर्वक आगे विचार किया जायेगा । इस प्रकार हम देखते हैं कि वैदेशिक शक्तियों के प्रहार ने भारत की प्राचीन आध्यात्मिक परम्परागत शक्ति को पुनर्जागृत कर दिया, जिसका परिणाम यह हुआ कि भारत में अनेक धर्म-शिक्षक, संत तथा दार्शनिक विद्वानों ने हिन्दू-धर्म के अवांछनीय तत्वों को दूर हटाकर उसे परिष्कृत करने का प्रयास किया तथा उसके पावन संदेश का यूरोप और अमेरिका के सुदूरवर्ती देशों तक प्रसार किया । ये धार्मिक सुधार तीन प्रकार से हुए ।[१४]

१- प्रथम कोटि के लोगों ने आधुनिक परिस्थितियों के अनुसार नवीन भारतीय धर्म की प्रतिष्ठा के दृष्टिकोण को अपनाकर नई धर्म संस्थाओं की स्थापना की।

२- दूसरे प्रकार के धर्म सुधारकों ने प्राचीन वैदिक-धर्म को मूल रूप में प्रतिष्ठित किया और कालान्तर में आये हुए भारतीय धर्म के समस्त परिवर्तनों को अवांछनीय ठहराया ।

३- तीसरे प्रकार के धार्मिक नेताओं ने समन्वयात्मक दृष्टिकोण अपनाकर प्राचीन धर्म के उस परिष्कृत रूप को प्रतिष्ठित करके आधुनिक विज्ञानवाद के युग में उसे लोक ग्राह्य बनाते हुए उसके व्यापक रूप को प्रकट करने का प्रयास किया ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि कुछ सुधारकों ने नये धर्म सम्प्रदाय स्थापित कर डाले और कुछ ने नये सम्प्रदाय न निकालकर आचार-विचारों में ही परिवर्तन लाने का उपक्रम किया । डॉ० राधाकृष्णन् के मतानुसार- 'प्राचीन धार्मिक रूढ़िता के प्रति प्रकम्पित भारतीय विश्वास ने यहाँ की विचारधारा को स्वतंत्र दिशा प्रदान कर उसे उदार तत्वों में समन्वित कर दिया, जिसके परिणामस्वरूप पूर्ववर्ती परम्पराओं

की श्रृंखला टूट चली । भारतीय विचारकों में से कुछ तो प्राचीन नींव पर धर्म साधना, के भवन की पुन:प्रतिष्ठा की ओर संलग्न हुए और कुछ ने प्राचीन नींव को बिल्कुल हटाकर नये सिरे से धार्मिक सुधारों की नींव डालीं ।[१५] आधुनिक काल के प्राय: समस्त धार्मिक सुधार ब्रह्म समाज, प्रार्थना समाज, आर्य समाज इन संस्थाओं के धार्मिक आन्दोलनों में समाहित हैं । इन आन्दोलनों के तीन प्रमुख उद्देश्य थे । धार्मिक एवं सामाजिक रूढ़ियों का प्रत्यावर्तन, निर्धनता के कारण आर्थिक व्यवस्था के विरुद्ध आंदोलन तथा विदेशी सत्ता के विरुद्ध आन्दोलन, उपर्युक्त प्रकार से स्वत: स्फूर्त आत्म-गौरव की चेतना के अतिरिक्त अनेक अंग्रेजी मनीषी भारतीय साहित्य एवं उसकी परम्परा के अध्ययन में प्रवृत्त होकर उसके प्रशंसक भी बने । ऐसे मनीषियों में सर विलियम जोन्स का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है ।[१६] योरोपीय संपर्क ने संस्कृत भाषा और उसके साहित्य के अध्ययन की ओर इंगलैण्ड ही नहीं, जर्मनी तथा अन्य देशों के विद्वानों को प्रेरित किया । अत: एक सीमा तक यह स्थिति भी भारतीयों में आत्मगौरव को जगाने में सहायक कही जा सकती है । निष्कर्षत: इस सांस्कृतिक पुनर्जागरण में जिन आरंभिक प्रवृत्तियों का महत्त्वपूर्ण योगदान है । वे प्रधानतया इस प्रकार हैं - ब्रह्मसमाज, प्रार्थना समाज, आर्य समाज, श्री रामकृष्ण मिशन । जिन पर यहां क्रमश: विचार किया जा रहा है -

## सांस्कृतिक पुनर्जागरण और ब्रह्मसमाज :

सांस्कृतिक पुनर्जागरण के प्रारंभिक विकास पर विचार करते हुए प्रो० हरिदत्त विद्यालंकार ने लिखा है कि सन् १८१३ ई० के बाद ईसाई मिशनरी हिन्दू धर्म पर बहुत प्रबल आक्रमण करने लगे । राजा राममोहन राय पहले तो इनका उत्तर देते हैं और बाद में उन्होंने शुद्ध एकेश्वरवाद की उपासना के लिए ब्रह्मसमाज की स्थापना की।[१७] राजा राममोहन राय ने एक ओर भारत को सर्वप्रथम सांस्कृतिक दृष्टि से उन्नत बनाने

के लिए नयी पृष्ठभूमि का निर्माण किया तथा दूसरी ओर अंग्रेजों की वैज्ञानिक शिक्षा पद्धति[१८] को अपनाने पर बल दिया। उन्होंने पश्चिमी ज्ञान से नवीन दृष्टि प्राप्त करके हिन्दुओं के धार्मिक आचार-विचारों में क्रांति करते हुए आधुनिक भारत के निर्माण का प्रयास किया।[१९] राममोहन राय अपने युग के महान सुधारक थे। समाज की कुरीतियों का स्वयं साक्षात्कार करने के कारण वे ऐसे भारत की इच्छा रखते थे, जो सर्वगुण सम्पन्न हो और मानवतावादी हो, इस प्रकार वे प्राचीन जीवन- मूल्यों को तत्कालीन परिवेश के अनुरूप विकसित करके नव-जीवन का संचार करना चाहते थे। उनके कार्य-कलाप बहुमुखी थे। राजनीति, जन-प्रशासन और शिक्षा के साथ सामाजिक और धार्मिक सुधार ने उनका ध्यान आकृष्ट किया। दुर्भाग्यवश देश की परिस्थितियाँ अनुरूप नहीं थीं कि वे इन क्षेत्रों में अपनी शक्ति का उपयोग कर सकते, किन्तु इन सभी विषयों पर उनके विचार मिलते हैं। जिससे उनका युगद्रष्टा का व्यक्तित्व प्रकाश में आता है। लार्ड एमहर्स्ट को लिखे गये पत्र में वे कहते हैं कि- 'सरकार जितना धन शिक्षा के लिए देती है। उसी धन से यूरोप के प्रतिभा सम्पन्न विद्वान बुलाकर भारतीयों को गणित, दर्शन, रसायन-विज्ञान, शरीर-रचना विज्ञान और अन्य उपयोगी विज्ञान पढ़ाने के लिए नियुक्त करें।[२०] वे एक ऐसे कालेज की स्थापना करवाना चाहते थे जो उपयुक्त सामग्रियों, औजारों से परिपूर्ण हो तथा पश्चिमी विज्ञान की शिक्षा दे। वे पाश्चात्य शिक्षा का समर्थन इसलिए करते थे कि भारतीयों को नयी दृष्टि मिले और वे अपना सुधार करके पाश्चात्य लोगों के समक्ष हीन न रहें।[२१] लार्ड मैकाले के कहने पर सन् १८३५ ई० में अंग्रेजी शिक्षा के समर्थन विषयक सरकार के प्रस्ताव को गवर्नर जनरल द्वारा पारित कर दिया गया था। लेकिन तब उनकी मृत्यु को डेढ़ वर्ष बीत चुका था। उनकी इस नीति से भारतीयों को यह लाभ हुआ कि पाश्चात्य भौतिक आदर्शों एवं विचारों, विज्ञान, राजनीति और इतिहास से उनका परिचय हुआ और नयी सांस्कृतिक तथा राजनीतिक चेतना का जन्म हुआ। पूर्ववर्ती अध्याय के अंतिम पृष्ठों में

विदेशी साम्राज्य की प्रतिष्ठा से जिस सांस्कृतिक हीनता का संकेत दिया गया है, राजा राममोहन राय का उक्त प्रयास निश्चय ही उसके निदान रूप में माना जा सकता है।

सामाजिक सुधार के इतिहास में और विशेषत: सती-प्रथा के उन्मूलन में राजा राममोहन राय का सांस्कृतिक योगदान ऐतिहासिक महत्त्व रखता है। सन् १८१८ ई० में इसके विरुद्ध जनमत जागृत करने के लिए एक पुस्तक लिखकर उन्होंने अपना आन्दोलन आरंभ किया और शास्त्रों द्वारा प्रमाणित करते हुए यह प्रतिपादित किया कि यह स्वैच्छिक होना चाहिए।[२२] उनके प्रयत्नों के परिणाम स्वरूप सन् १८२९ ई० में गवर्नर जनरल लार्ड विलियम बैन्टिक ने इस प्रथा को गैर-कानूनी घोषित किया।[२३] इसी प्रकार उन्होंने बहु-विवाह प्रथा और स्त्रियों का पैतृक-सम्पत्ति पर अधिकार विषयक लेख लिखकर नव-जागरण की भूमिका का निर्माण किया। अपने विचारों की पुष्टि में उन्होंने मनु, याज्ञवल्क्य, कात्यायन तथा बृहस्पति आदि की स्मृतियों से प्रमाण प्रस्तुत किये। उनका यह प्रयास सांस्कृतिक पुनर्जागरण या पुनरुत्थान कहा जा सकता है। उपनिषदों और ब्रह्मसूत्रों के एकेश्वरवाद, ब्रह्मवाद का जो प्रतिपादन उन्होंने ब्रह्म ब्रह्म-समाज के माध्यम से किया, वह भी पुनर्जागरण का ही एक रूप है। इसके विषय में राष्ट्र कवि दिनकर ने लिखा है कि-"यूरोप के सम्पर्क से जैसे भारत में नयी मानवता का जन्म हो रहा था। वैसे ही हिन्दू धर्म भी नया रूप ले रहा था। ब्रह्मसमाज इसी अभिनव हिन्दुत्व का एक रूप था।[२४] डॉ० शम्भूनाथ सिंह के मतानुसार - हिन्दू धर्म का उक्त एकेश्वरवादी रूप ईसाई धर्म की तुलना में इसलिए रखा गया, जिससे हिन्दू जनमत मिशनरियों के आकर्षण से विरत होकर अपनी सांस्कृतिक विरासत से पृथक् न हो जाय, यद्यपि ईसाइयों की प्रार्थना पद्धति को इसमें स्थान मिला था।[२५]

यह उल्लेखनीय है कि सामाजिक और पारिवारिक दायित्वों के निर्वाह

के लिए राजा राममोहन राय ने शास्त्र की स्मृति के अनुसार चलने को कहा । उन्होंने कभी भी हिन्दू-धर्म, हिन्दू- समाज के पुनर्निमाण हेतु मूलभूत परिवर्तन करने के लिए विचार नहीं किया । वे हिन्दू धर्म की कुरीतियों को समाप्त करना चाहते थे । ब्रह्मसमाज के प्रचलन की व्यवस्था वेदान्त पर आधारित है । उसमें ईश्वर का ध्यान, गायत्री मंत्र, उपनिषद के कुछ संवाद, श्लोक व्याख्या सहित कहे जाते हैं । तत्पश्चात् महानिर्वाण तंत्र से लिये गये स्तोत्रों का मनन किया जाता है । उन्होंने ईश्वरवादी संस्था की स्थापना की तो कोई नयी वस्तु का प्रचलन नहीं किया । यह हिन्दू-धर्म के लिये कोई अभिनव वस्तु नहीं है । इसके विपरीत यह एक अविरल धारा है जो ऋग्वेद से लेकर उपनिषद, भगवद्गीता, रामानुज, तुलसीदास, चैतन्य और कई महात्माओं तक बहती हुई आयी है ।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि वे परंपरावादी थे, अपने देश की उत्तम रीतियों के प्रति आस्थावान रहे । ईसाई मिशनरी जब हिन्दू-धर्म पर आक्रमण कर रही थी, उसका उतना ही विरोध किया, जितना वे भारतीय रूढ़िवादिता का कर रहे थे । वे संस्कृत, हिन्दी, बंगाली ,फारसी, अरबी, हिब्रू, ग्रीक और अंग्रेजी भाषाओं के बहुत अच्छे ज्ञाता थे । पंडितों के साथ वाद-विवाद में उन्होंने स्मृतियों के विस्तृत परीक्षण द्वारा यह बताने की चेष्टा की कि हिन्दू-समाज में विद्यमान कुरीतियाँ जिनकी उन्होंने भर्त्सना की थी, बाद में बढ़ गयी थीं और इन कुरीतियों से प्राचीन विश्वास की शुद्धता अप्रभावित ही रही थी । इसके लिये उन्होंने देशवासियों को सजग किया । अपनी आत्मकथा में उन्होंने कहा है कि अपने समस्त विवादों में जो रुख उन्होंने अपनाया, वह ब्राह्मणवाद के विरुद्ध नहीं था बल्कि उसकी विकृतावस्था के विरुद्ध था । इतिहास में राममोहन राय का स्थान उस महासेतु के समान है, जिस पर चढ़कर भारतवर्ष अपने अथाह अतीत से अज्ञात भविष्य में प्रवेश करता है ।

प्राचीन जाति प्रथा और नवीन मानवता के बीच जो खाई है, अन्धविश्वास और विज्ञान के बीच जो दूरी है, स्वेच्छाचारी राज्य और जनतंत्र के बीच जो अन्तराल है तथा बहुदेववाद एवं शुद्ध ईश्वरवाद के बीच जो भेद है उन सारी खाइयों पर पुल बांधकर भारत को प्राचीन से नवीन की ओर भेजने वाले महापुरुष राममोहन राय हैं।[२६]

महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर उपर्युक्त जन-जागरण में राजा राममोहन राय के पश्चात् संयुक्त हुए। उन्होंने प्रारम्भ में तत्त्वबोधिनी सभा की स्थापना की जो आगे चलकर ब्रह्मसमाज में विलीन कर दी गयी। उक्त आंदोलन को सुगठित करने के लिए आगे चलकर उन्होंने तत्त्वबोधिनी सभा तथा उसी नाम का एक स्कूल खोला, किन्तु वेद वेद और पुराण को परिपूर्ण प्रमाण रूप में अस्वीकार करने के कारण उक्त आंदोलन को एक आघात लगा। सन् १८५७ ई० में उक्त आन्दोलन में सम्मिलित होने वाले केशवचन्द्र सेनएक अत्यन्त मेघावी एवं प्रतिभासम्पन्न नवयुवक थे। देवेन्द्रनाथ ठाकुर तथा केशवचन्द्र सेन ने प्राचीन परंपराओं के विरोध तथा नयी चेतना के उत्साह में आकर ब्रह्मसमाज के नियमों की 'अनुष्ठान पद्धति' नामक एक पुस्तक लिपि बद्ध की।[२७] इसके साथ ही मूर्ति पूजा की अमान्यता तथा जाति- भेद के विरोध में यज्ञोपवीत को त्यागने पर बल दिया।[२८] इस नवोत्साह में पुरोहित-पद पर नियुक्त ब्राह्मणों को हटाकर नये पुरोहितों की नियुक्ति की गयी, जिसके परिणाम स्वरूप ब्रह्म समाज का ज्येष्ठ वर्ग उनसे अलग हो गया।[२९] फलत: देवेन्द्रनाथ ठाकुर यह सोचने के लिए बाध्य हुए कि समाज के साथ ज्यादती हो रही है। केशवचन्द्र सेन द्वारा प्रतिपादित अन्तर्जातीय विवाह से भी वे सहमत न हो सके।

केशवचन्द्र सेन उत्साही नवयुवक होने के साथ ही ईसाइयों की ओर झुके हुए

थे, और उपर्युक्त नव-परिवर्तनों के कारण सन् १८६४ ई० में ब्रह्म-समाज में फूट पड़ गयी। उन्होंने सन् १८६६ ई० में भारतीय ब्रह्म समाज की स्थापना की। महर्षि देवेन्द्रनाथ ने पुन: ब्राह्मण पुरोहितों की नियुक्ति तथा उपनयन धारण की स्वीकृति प्रदान की। दूसरी ओर केशवचन्द्र सेन तथा उनके अनुयायी ईसाइयत की ओर क्रमश: झुकने लगे। अपने व्याख्यानों में उन्होंने ईसामसीह को पैगम्बरों का राजा तथा क्रास को पवित्र चिह्न घोषित किया। अपने नवगठित भारतीय ब्रह्म समाज को लोकप्रिय बनाने के लिये उन्होंने बंगाल में अत्यधिक प्रचलित चैतन्य के भक्ति के रूप को अपना लिया और उसमें प्रचलित भजनों के वाद्य-यंत्रों के साथ गान के आयोजन किये। फलत: उन्हें चैतन्य की ही भाँति बंगाल में सम्मान प्राप्त होने लगा, किन्तु दूसरी ओर समाज के संविधान के अभाव में तथा कूचबिहार के राजा के साथ उनकी पुत्री के विवाह के विरोध में ब्रह्म-समाज के कुछ सदस्यों ने उन्हें पदच्युत करना चाहा। इसमें उन्हें सफलता तो नहीं मिली, किन्तु उन्होंने 'साधारण ब्रह्म-समाज' नामक स्वतंत्र संस्था को जन्म दिया। कालान्तर में वे श्री रामकृष्ण परमहंस से प्रभावित हुए और अपने 'समाज' की प्रभाव वृद्धि के लिए स्वयं को ईश्वर द्वारा नियुक्त नेता घोषित करके उसमें ब्रह्म समाजके तर्कवाद, वैष्णव धर्म की भावुकता, ईसाई धर्म की अलौकिकता, वेदान्त के रहस्यवाद को सम्मिलित करने की चेष्टा की।[30] केशवचन्द्र सेन की मृत्यु के बाद उनके द्वारा स्थापित चर्च बिखर कर बँट गया।

ब्रह्म-समाज का उपर्युक्त आन्दोलन उक्त परिस्थितियों के परिणाम स्वरूप कालान्तर में विघटित हो गया, किन्तु उसके कारण बंगाल में जो नव-जागृति उत्पन्न हुई, उसने समाज-सुधार की चेतना के साथ-साथ भारतीय समाज को तीव्रता से ईसाइयत की ओर झुकने से रोका तथा रूढ़िग्रस्त हिन्दू-समाज में नयी विचारधारा का समावेश करके भारतीय-धर्म को युगानुरूप ढालने का एक सीमा तक प्रयास किया। वेद-उपनिषदों के आधार पर भारतीय धर्म की श्रेष्ठता के प्रतिपादन ने देशवासियों में आत्म-गौरव

का संचार किया । समाज-सुधार के दृष्टिकोण से देखा जाय तो ब्रह्म-समाज ने सती-प्रथा, बाल-विवाह, बहु-विवाह, पर्दा-प्रथा, जाति-भेद, अस्पृश्यता आदि का विरोध किया और स्त्री-शिक्षा, अन्तर्जातीय विवाह तथा विधवा-विवाह को क्रियात्मक रूप प्रदान किया । इस आन्दोलन को सशक्त बनाने के लिए राजा राममोहन राय ने वेदान्त कालेज, इंगलिश स्कूल तथा हिन्दू कालेज जैसी संस्थाओं की स्थापना की और लेखों-भाषणों तथा समाचार-पत्र-पत्रिकाओं के प्रकाशन के आयोजन किये ।[३१] आगे चलकर केशवचन्द्र सेन तथा सर सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने भी शिक्षा-संस्थाओं की स्थापना की तथा किसानों के हित और प्रेस की स्वतन्त्रता आदि के प्रयास किये ।

इसमें सन्देह नहीं कि उपर्युक्त प्रयासों से भारत में राष्ट्रीय चेतना का भी प्रकारान्तर से संचार हुआ । सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य यह हुआ कि भारतीयों में आत्म-गौरव की भावना का विकास हुआ ।[३२] इससे राष्ट्रीयता की अंतश्चेतना का निर्माण हुआ । पूर्ववर्ती विवेचन के निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि भारतीय धर्म और संस्कृति के आधुनिकीकरण में ब्रह्म-समाज का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है । इस सन्दर्भ में डॉ० जकारिया का यह कथन उल्लेखनीय है कि- 'राममोहन राय और उनका ब्रह्म-समाज हिन्दू-धर्म, समाज और राजनीति में उन सभी सुधार आंदोलनों को आरम्भ करने वाला था । जिन्होंने पिछले सौ वर्षों में भारत में उत्तेजना पैदा की है और जिन्होंने हमारे समाज में इस अद्वितीय पुनर्जागरण को जन्म दिया है ।[३३]

ब्रह्म-समाज की ही भांति भारत के पश्चिमांचल में प्रार्थना-समाज ने इसी प्रकार जागृति का प्रसार किया । अत: उसकी प्रवृत्तियों की भी संक्षिप्त चर्चा यहाँ आवश्यक है ।

## प्रार्थना समाज :

ब्रह्म-समाज की प्रेरणा तथा केशवचन्द्र सेन के आग्रह पर सन् १८६४ ई० में बम्बई

में प्रार्थना समाज की स्थापना हुई तथा आगे चलकर पूना, सूरत आदि स्थानों में इसकी शाखाएँ खुली । डॉ० भण्डारकर तथा न्यायाधीश महादेव गोविन्द रानाडे ने इसके संगठन को दृढ़ बनाने का प्रयास किया । नि:सन्देह आधुनिक भारतीय पुनर्जागरण के महान नेताओं में वे भी एक थे ।[34] वे देश भक्त और समाज-सुधारक थे । उनके अनुसार सुधार वास्तव में वास्तविक श्रेष्ठ धर्म, कानून, संस्थानों और रीति-रिवाजों पर पतित युग द्वारा थोपे गये बन्धनों से मुक्ति पाता है,[35] अपना स्वभाव परिवर्तित नहीं करता है । अन्यथा सुधार होना असम्भव होगा । हमें केवल अपना ध्यान आत्म पतन की ओर से हटाकर बहुत काल पूर्व के पुराने गौरव की ओर लगाना होगा ।[36] ~~अतीत-की-सांस्कृतिक-प~~ इससे प्रकट है कि वे ~~अतीत की~~ सांस्कृतिक पुनरुत्थान के समर्थक थे तथा भारतीय राष्ट्र एवं उसकी सांस्कृतिक परम्परा के प्रति गौरवपूर्ण दृष्टिकोण रखते थे । सन् १८९३ ई० में लाहौर में हुई सातवीं सभा के भाषण में उन्होंने कहा था कि- अपने धर्म की दो बातों में मुझे सीधा-सादा विश्वास है- हमारा यह देश धर्म की सही भूमि है और हमारी यह जाति चयनित जाति है ।'[36] उन्होंने अनेक स्थानों में अपने वक्तव्यों में गरिमामय अतीत की झलक दिखाकर जनता में राष्ट्रीयता तथा आत्मगौरव की भावना का संचार किया । अत: हम कह सकते हैं कि रानाडे और उनके प्रार्थना-समाज ने महाराष्ट्र में समाज-सुधार एवं सांस्कृतिक पुनर्जागरण का वही कार्य किया जो बंगाल में ब्रह्म-समाज ने[37] इस जन-जागृति में इस संस्था ने निराधार अन्धविश्वासों के आवरण को तोड़ने का प्रयास किया है ।[38] यह उल्लेखनीय है कि ब्रह्म-समाज व प्रार्थना-समाज द्वारा प्रवर्तित उक्त सांस्कृतिक नव-जागरण सीमित क्षेत्रों में हुआ । यह आन्दोलन प्रभाव व व्यापकता प्राप्त न कर सका । इसका प्रमुख कारण आगे चलकर महाराष्ट्र में लोकमान्य तिलक, विपलूणकर आदि लोगों द्वारा प्रवर्तित राष्ट्रीय आन्दोलन का प्रवर्तन था । जिसके तीव्र प्रचार ने प्रार्थना समाज के सुधारवादी आन्दोलन को पीछे कर दिया ।[39]

किन्तु इस सांस्कृतिक पुनर्जागरण को अपेक्षाकृत अधिक व्यापक क्षेत्र तक फैलाने में नेव
स्वामी दयानन्द द्वारा स्थापित आर्य-समाज का योगदान विशेष महत्त्वपूर्ण है जैसा कि परवर्ती विवेचन से प्रकट है ।

## वैदिक धर्म का पुनरुज्जीवन एवं आर्य समाज :

जैसा कि पूर्ववर्ती विवेचन से प्रकट है कि उपर्युक्त दोनों जागरण विषयक प्रयास प्रधानतया सुधारवादी थे और प्राय: ईसाइयत से अधिक प्रभावित थे । फलत: हिन्दू धर्म की श्रेष्ठता को संसार के समक्ष रखने में इतने सक्षम न थे । ऐसे समय में भारतीय गगन मंडल में एक प्रभापुंज का आविर्भाव हुआ, जिसने अपनी तेजस्विता से हिंदू धर्म की अस्मिता को प्रतिष्ठित किया । इस तेजस्वी पुरुष का नाम था दयानन्द । उन्होंने भारतीय धर्म व समाज की तत्कालीन हीनावस्था का चित्र आधुनिक काल के पूर्ववर्ती सुधारकों की ही भाँति देखा था, परन्तु उनका विचार था कि भारतीय समाज का धार्मिक आधार पहले से ही विद्यमान है, जिसके पुनर्गठन के लिए प्राचीन शास्त्रों का वैज्ञानिक ढंग से अध्ययन करना आवश्यक है ।[४०] स्वामी दयानन्द सरस्वती संस्कृत के प्रकाण्ड विद्वान थे और संस्कृत में ही धारा-प्रवाह भाषण दिया करते थे । केशवचन्द्र सेन व ब्रह्म-समाज के अन्य सदस्यों के कहने पर उन्होंने हिन्दी में बोलना प्रारंभ किया ।[४१] जो कि जन-साधारण की भाषा थी । इससे उनके समाज की लोकप्रियता और बढ़ी ।

भारतीय धर्म और संस्कृति के ह्रास के समय दयानन्द ने भारतीय संस्कृति के अभ्युत्थान में अपना महत्त्वपूर्ण योगदान दिया । पूर्व निर्दिष्ट ह्रासोन्मुख परिस्थिति के कारण भारतीय धर्म, संस्कृति की अक्षय निधि भी क्षीण होती जा रही थी । सांस्कृतिक मर्यादा व राष्ट्रीय स्वाभिमान लुप्त होता जा रहा था । भारतीय संस्कृति

की इसी ह्रासावस्था में स्वामी दयानन्द सामने आये। जैसे राजनीति के क्षेत्र में हमारी राष्ट्रीयता का सामरिक तेज पहले-पहल तिलक में प्रत्यक्ष हुआ, वैसे ही संस्कृति के क्षेत्र में भारत का आत्माभिमान स्वामी दयानन्द में निखरा।[42] भारतीय समाज तथा उसकी धार्मिक परम्परा में इतनी विकृतियां आ गयी थीं कि उनके उच्छेद तथा उसे युगानुरूप रूपाकार दिए बिना बुद्धिवादी वर्ग की उसके प्रति निष्ठा की स्थापना एक प्रकार से असम्भव थी। पूर्ववर्ती सुधारवादी आन्दोलनों ने भी लगभग यही प्रवृत्ति अपनायी थी। स्वामी दयानन्द ने रूढ़ियों और गतानुगतिकता में फंसे हुए भारतवासियों की कड़ी निन्दा की। उन्होंने कहा कि तुम्हारा धर्म पौराणिक संस्कारों में छिप गया है। इन गन्दी पर्तों को तोड़ फेंको, तुम्हारा सच्चा धर्म वैदिक धर्म है।[43] उन्होंने हिन्दुओं के साथ-साथ ईसाइयों और मुसलमानों को भी फटकारा। ये लोग हिन्दू धर्मों की उपेक्षा कर अपने धर्मों को श्रेष्ठ बतलाते थे। दयानन्द ने उनके धर्मों की विकृतियों पर तीव्र प्रहार किया। इससे हिन्दू जनता का ध्यान फिर से अपने धर्म की ओर लौटा और वे अपनी प्राचीन परम्परा के प्रति गौरव का अनुभव करने लगे। 'सत्यार्थ प्रकाश' में उन्होंने इन सबके साथ वल्लभाचार्य और कबीर की कटु आलोचना की है। कई विद्वज्जन इससे नाराज भी हुए, किन्तु यूरोप के बुद्धिवाद ने भारत वर्ष को इस प्रकार झकझोर डाला था कि हिन्दुत्व के बुद्धि-सम्मत रूप को आगे लाये बिना कोई भी सुधारक भारतीय संस्कृति की रक्षा नहीं कर सकता था। स्वामी जी ने बुद्धिवाद की कसौटी बनायी और उसे हिन्दुत्व, इस्लाम व ईसाइयत पर निश्चल भाव से लागू कर दिया। परिणाम यह हुआ कि पौराणिक हिन्दुत्व तो इस कसौटी पर खण्ड-खण्ड हो ही गया, इस्लाम और ईसाइयत की भी सैकड़ों कमजोरियाँ लोगों के समक्ष आ गयीं।[44] अत: इस संभावना को तथ्य के परे नहीं कहा जा सकता कि दयानन्द सरस्वती के इस तर्काश्रित आलोचना के फलस्वरूप ईसाइयत के अभियान, हिन्दुत्व के प्रति हीन भावना के फलस्वरूप भारतीयों का पाश्चात्य जीवन पद्धति एवं धर्म-साधना की ओर झुकाव जैसी नवनिर्मित स्थिति में एक सुदृढ़ अवरोध का निर्माण हुआ। उन्होंने वेद को ही सत्य माना। उनकी

दृष्टि से वेद पूर्ण प्रमाण तथा परमेश्वर के शुद्ध स्वरूप के भण्डार हैं।[४५] इसी आधार पर उनका आन्दोलन आगे चला। १० अप्रैल सन् १८७५ ई० को उन्होंने बम्बई में आर्य-समाज की स्थापना की। स्वामी जी ने समाज के लिये दस नियम बनाये थे। जिनका कट्टरता से पालन करना प्रत्येक समाज के व्यक्ति के लिये आवश्यक था। समाज न केवल इस बात पर जोर देता है कि वेद अभेद्य हैं, बल्कि कर्म और पुनर्जन्म, गाय की पवित्रता, होम का महत्त्व, संस्कारों के महत्त्व पर भी बल देता है। मूर्तिपूजा, पशुबलि, ~~पितृ~~- पितृ पूजा, तीर्थयात्रायें, पुजारी के कार्य, मंदिरों में चढ़ावा, जाति-प्रथा, अछूतवाद व बाल-विवाह की निन्दा करता है। क्योंकि इन्हें वेदों से भी स्वीकृति नहीं ~~मिली~~ मिली है। वह ऐसे सार्वभौम धर्म पर आधृत है जो जाति की भिन्नता से रहित और वेद के प्रमाण पर आधारित हो।[४६] इतिहास से यह ज्ञात होता है कि हिन्दू धर्म ने हजारों जातियों को आत्मसात किया है और उन्हें उच्च स्थान दिया है। इसीलिये आर्य समाज ने भी शुद्धीकरण समारोह द्वारा भारत के प्राचीन इतिहास को पुनर्जीवित कर उसकी संस्कृति की रक्षा की है। आर्य समाज ने हिन्दुओं को आत्मरक्षा करने के लिये प्रेरित किया है और साथ ही उन्हें एकता का पाठ भी पढ़ाया है।

स्वामी दयानन्द ने अपने जीवन में राष्ट्रीय शिक्षा प्रणाली पर जोर दिया। जिस स्थान पर भी वे गये, उन्होंने संस्कृत स्कूलों की स्थापना की और वैदिक शिक्षा का पक्ष लिया। आर्य समाज के दस सिद्धान्तों में आठवां सिद्धान्त कहता है कि अज्ञानता दूर कर ज्ञान का सर्वत्र प्रकाश फैलाना चाहिये। आर्य समाज के ~~शैक्ष~~-- शैक्षिक क्रिया-कलापों के दो महान स्मारक एक लाहौर का आंग्ल-वैदिक कॉलेज तथा दूसरा हरिद्वार का गुरुकुल कांगड़ी है। परन्तु स्वामी दयानन्द का सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य हिन्दू-धर्म को एक ऐसी कट्टरता प्रदान करना था जो इस्लाम और ईसाई धर्म में पायी जाती थी। हिन्दू धर्म-ग्रंथों और स्वयं वेदों ने भी कहीं यह नहीं कहा कि वे ही सत्य का एकमात्र मार्ग हैं। उनमें उदारता और सहनशीलता पायी जाती

है । उन्होंने हिन्दू-धर्म की इस कमजोरी को समझा और उन्होंने केवल वेदों को वही श्रेष्ठता और अनन्यता का स्थान दिया, जो मुसलमान कुरान को, ईसाई बाइबिल को देते हैं । उन्होंने यह आवाज बुलन्द की कि 'वेद ही संसार में सर्वश्रेष्ठ हैं और सत्य मार्ग केवल वेदों में ही है' । इसी कारण आर्य समाज कट्टर हिन्दू-समर्थक( Militant Hinduism ) कहलाता है ।[४७] हिन्दू धर्म इस मान्यता के कारण अपनी क्षुद्रता से मुक्त हो सका । स्वामी दयानन्द ने अपने नये विचारों के अनुरूप ही वेदों की व्याख्या की और वैदिक धर्म के उद्धार के लिये आन्दोलन किया, लेकिन यह वस्तुतः वैदिक धर्म नहीं, वर्तमान परिस्थितियों के अनुरूप नये ढंग से सुधारा हुआ हिन्दू आदर्श ही था, जिसे उन्होंने आर्य-धर्म का नाम दिया ।[४८]

स्वामी दयानन्द ने राष्ट्रीयता के निर्माण में भी महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है । उनका मुख्य लक्ष्य राजनीतिक स्वतन्त्रता था । 'स्वराज्य' शब्द का प्रयोग उन्होंने सर्वप्रथम किया । स्वदेशी वस्तुओं का उपयोग व विदेशी वस्तुओं के बहिष्कार का नारा पहले पहल लगाने का श्रेय उन्हीं को है । उन्होंने हिंदी को राष्ट्रभाषा स्वीकार करने का महत्त्वपूर्ण कार्य किया ।[४६] निःसन्देह हिन्दू-जाति स्वामी जी के उपकारों को भुला नहीं सकती । उन्होंने देश एवं जाति के पुनरुत्थान के लिये जीवन-पर्यन्त निरन्तर कार्य करते-करते अपने प्राणों को उत्सर्ग कर दिया । उनके आदेश तथा संघर्ष से भारतवर्ष जाग उठा और भावी स्वतंत्रता संग्राम के लिए कटिबद्ध होने लगा।[५०]

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि दयानन्द ने हिन्दू-धर्म-संस्कृति के सुधार में महत्त्वपूर्ण कार्य किया । राष्ट्रीय चेतना का नवीन स्वर दिया । उन्होंने भारतीय संस्कृति को एक नवीन दिशा और प्रकाश दिया, जो अब तक किसी भी व्यक्ति ने प्रदान नहीं किया था । अरविन्द घोष के शब्दों में -'दयानन्द सरस्वती परमात्मा

की इस विचित्र सृष्टि में एक अद्वितीय योद्धा तथा मनुष्य और मानवीय संस्थाओं का संस्कार करने वाले एक अद्भुत शिल्पी थे।[५१] इस समाज ने नियमित ढंग एवं निश्चित सिद्धान्तों के आधार पर हिन्दू समाज को नवजागरण का सन्देश दिया, उसमें आत्म-गौरव और स्वाभिमान को जागृत किया । राजनीतिक जागृति भी इस आन्दोलन का महत्त्वपूर्ण योगदान है क्योंकि आगे चल कर स्वाधीनता संग्राम के अनेक नेताओं को उसने जन्म दिया है। धार्मिक संस्थाओं में आर्य समाज का पहला स्थान है। तिलक, लाला लाजपत राय, गोखले और विपिनचन्द्रपाल जैसे व्यक्ति आर्य समाज के विचारों से प्रभावित थे। आर्य समाज ने कट्टर हिन्दू समर्थकों के निर्माण में सहयोग दिया जो कट्टर हिन्दू-धर्म की भावना को लेकर भारतीय राष्ट्रीयता के समर्थक बने। डा० मजूमदार लिखते हैं कि-`आर्य समाज आरम्भ से ही उग्रवादी सम्प्रदाय था और उसका मुख्य लक्ष्य राष्ट्रीयता था।[५२]

अत: उपर्युक्त विवेचन के आधार पर इस निष्कर्ष पर सरलता से पहुँचा जा सकता है कि आर्य समाज एक सशक्त सांस्कृतिक आन्दोलन है, जिसने आगे चलकर राष्ट्रीयता की चेतना के निर्माण की सुदृढ़ पृष्ठभूमि का निर्माण किया । राष्ट्रीयता की इस चेतना को प्रवर्द्धित एवं विकसित करने में श्रीमती एनी बैसेन्ट एवं उनकी थियोसोफिकल सोसायटी का योगदान भी है, जिसकी चर्चा इस सांस्कृतिक जागरण के परिप्रेक्ष्य में आवश्यक ही है।

## एनीबैसेन्ट और थियोसोफिकल सोसायटी :

संयोगवशात् ईसाई मिशनरियों के द्वारा हिन्दू धर्म पर किये गये आक्षेपों का उत्तर देनेवाला व्यक्तित्व उन्हीं की सभ्यता और संस्कृति के बीच श्रीमती एनी-बैसेन्ट के रूप में अवतरित हुआ, ~~पूर्ण व्यक्तित्व श्रीमती एनि बैसेन्ट का था~~, जिन्होंने सुप्त भारतीय जनता को जागरण का सन्देश दिया।[५३] थियोसोफिकल सोसायटी की

नींव मैडम ब्लैवास्की व मि० आल्काट महोदय ने ७ सितम्बर सन् १८७५ ई० न्यूयार्क में रखी थी। सन् १८७९ ई० में दयानन्द का आमन्त्रण पाकर ये लोग भारत आये और मद्रास (अडयार) में अपना कार्यालय बनाया। स्वामी दयानन्द के साथ-साथ ये संस्था कुछ समय तक चली, किन्तु दयानन्द जी का ध्येय भिन्न था। वे सभी धर्मों का खण्डन करके वैदिक धर्म को पुन: स्थापित करना चाहते थे, किन्तु मैडम ब्लैवास्की व आलकाट महोदय का विश्वास सर्व धर्म समन्वय के साथ विश्व-बंधुत्व पर था।

श्रीमती बेसेन्ट १६ ठवि नवम्बर सन् १८९३ ई० में भारत आयीं।[54] और आते ही भारत के सांस्कृतिक आन्दोलन में कूद पड़ी। कर्नल आल्काट की मृत्यु के बाद वे ही थियोसोफिकल सोसायटी की सभानेत्री बनीं। श्रीमती बेसेन्ट हिन्दू धर्म के पुनरुत्थान में दृढ़-विश्वास रखती थीं। ~~उन्होंने हिन्दू-धर्म पर ईसाई मिशन-रियों द्वारा लगाये गये मिथ्यारोपों का खण्डन किया और हिन्दू धर्म के पुनरुत्थान में दृढ़ विश्वास रखती थीं।~~ उन्होंने हिन्दू धर्म पर ईसाई मिशनरियों द्वारा लगाये गये मिथ्यारोपों का खण्डन किया और हिन्दू धर्म की श्रेष्ठता का प्रतिपादन किया। श्रीमती एनी बेसेन्ट ने भारतीय जनता में आत्म गौरव की अद्भुत प्रेरणा का संचार किया और एक विदेशी महिला के द्वारा किया गया ऐसा प्रयास वस्तुत: उल्लेखनीय महत्त्व रखता है, उनका कहना है कि-`भारत की रक्षा भारत पुत्र ही कर सकते हैं। हम विदेशी लोग केवल सहायता मात्र कर सकते हैं। इसलिए तुम्हें ही जागकर अपने देश को पतन की ओर जाने से बचाना है + + + भारत की जड़ें हिन्दुत्व की मिट्टी में लगी हुई हैं, इससे उखड़ जाने पर वह निश्चय ही सूख जायेंगी। हिन्दुत्व के समाप्त हो जाने पर भारत की कब्र मात्र रह जायेगी और इजिप्ट व मिश्र की संस्कृति की तरह भारतीय संस्कृति कoवoवह भी केवल यादगार रह जायेगी।[55] हिन्दुत्व के प्रति आत्म-गौरव की भावना जगाते हुए नवम्बर सन् १९१४ ई० में प्रेजीडेन्सी कालेज-मद्रास में दिये

गये एक भाषण में उन्होंने कहा- `और इस प्रकार मैं उस बिन्दु पर आती हूं, जिससे मैंने आरम्भ किया था कि चालीस वर्षों के और उससे भी अधिक संसार के महान धर्मों की पढ़ाई के बाद मैं किसी को इतना पूर्ण, इतना वैज्ञानिक, इतना दार्शनिक, इतना आत्मिक नहीं पाती हूं जितना कि हिन्दुत्व के नाम से जाने वाले धर्म को, जितना अधिक तुम उसे जानोगे उतना ही अधिक तुम उसे प्रेम करोगे, जितना अधिक तुम उसे समझना चाहोगे, उतनी ही गहरायी से उसका मूल्य आंकोगे।[५६] शासक वर्ग सम्बंधित इस महिला का सांस्कृतिक जागरण के क्षेत्र में दोहरा योगदान है- एक ओर भारतीय समाज में अपनी अस्मिता के प्रति गौरव-भावना को बहुत बड़ा बल मिला। सर वैलेन्टाइन शिरोल अपने `इंडियन अनरेस्ट`( Indian unrest ) में इसके विषय में लिखते हैं -`निश्चय ही किसी हिन्दू ने आन्दोलन को आयोजित करने और मजबूत करने के लिए उतना नहीं किया, जितना श्रीमती बेसेन्ट ने।[५७] यह वक्तव्य अतिरंजित भले ही हो, किन्तु उपर्युक्त तथ्यों के प्रकाश में यह तो कहा ही जा सकता है कि ईसाई धर्म-प्रचारकों ने हिन्दुत्व पर आक्रमण का जो दंश फेंका था, उसका सम्यक् उपचार श्रीमती बेसेन्ट ने उपलब्ध कराया।

श्रीमती बेसेन्ट ने राजनीति और समाज सुधार के कार्य किये, उच्च शिक्षा के लिए बनारस में सेन्ट्रल हिन्दू कालेज की स्थापना की। जिसने आगे चलकर हिन्दू विश्वविद्यालय का रूप धारण किया।[५८] उन्होंने अपने भाषण, विदेश-यात्रा, बाल-विवाह, दलित-वर्ग, स्त्रियों की शिक्षा, जन-शिक्षा और जाति प्रणाली पर दिए थे। उनके भाषण बाद में `वेक अप इन्डिया( Wake up India ) नामक शीर्षक के अन्तर्गत प्रकाशित हुए। सामाजिक कार्यों की अपेक्षा वे राजनीति में अधिक सफल हुईं। जनवरी सन् १९१४ में `द कामन विल`( The common will ) नामक एक साप्ताहिक पत्रिका निकाली और कुछ माह बाद `न्यू इंडिया`( New India )

नामक एक दैनिक समाचार-पत्र निकाला । इन दो पत्रिकाओं में उनके शक्तिशाली लेख उनकी निर्भयता, साहस और संकल्प के परिचायक हैं । भारत के लिए गृह शासन ( Home Rule ) की वकालत करने के कारण वे अत्यन्त लोकप्रिय हो गयीं । इससे स्पष्ट है कि भारतीय राष्ट्रीय-जागृति में उनका महत्त्वपूर्ण योगदान है ।उनके राष्ट्रीय कार्यों में योगदान से मद्रास सरकार विचलित हो गयी और उसने सन् १९१७ ई० में उन्हें नजरबन्द कर दिया । लोकप्रिय होने के कारण ही जनता ने उनकी रिहाई के लिये आन्दोलन किया । जब सरकार ने उन्हें रिहा किया तो उन्हें भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने अध्यक्षा बनाकर उनकी सेवाओं को स्वीकारा ।श्रीमती नायडू ने उनके लिये कहा था कि -"यदि एनी बेसेन्ट न होती तो गांधी जी नहीं हो सकते थे । स्वयं गांधी जी ने उनके कार्यों के प्रति इस प्रकार श्रद्धा प्रकट की कि जब तक भारत जीवित रहेगा उनकी गौरवपूर्ण सेवाओं की यादगार भी रहेगी । उन्होंने भारत को अपनी जन्मभूमि मान लिया था । उनके पास देने योग्य जो कुछ भी था, उन्होंने भारत के चरणों पर चढ़ा दिया था, इसीलिए भारतवासियों की दृष्टि में वे उतनी प्यारी और श्रद्धास्पद हो गयीं ।[५६]

## रामकृष्ण परमहंस तथा स्वामी विवेकानन्द :

सांस्कृतिक नवोत्थान को अपनी आध्यात्मिक अनुभूति एवं साधना से गति देने वाले तथा उसमें प्राण शक्ति का संचार करने वाले श्री रामकृष्ण तथा विवेकानन्द की सांस्कृतिक उपलब्धियों के सम्यक् अनुशीलन बिना सांस्कृतिक नवोत्थान का विवेचन अधूरा रह जायेगा । रामकृष्ण परमहंस ने कोई धर्म नहीं चलाया । न ही किसी मठ या समाज की स्थापना की । वे केवल उपदेशों द्वारा जनता में सर्वधर्मसमन्वय के सिद्धान्त का प्रतिपादन करते थे । केशवचन्द्र के मित्र पी॰सी॰मजूमदार ने उनके विषय

म में लिखा था कि 'मेरे और उसके बीच में क्या समता है । मैं प्राय: यूरोपियन बना हुआ , सुसंस्कृत, आत्मकेन्द्रित, अर्ध संशयी और शिक्षित तार्किक कहे जाने वाला हूं । जब कि वह निर्धन, अशिक्षित, असभ्य, मूर्तिपूजक और मित्र-रहित एक हिन्दू साधु है, फिर भी मैंनडिजरायली, फासैट, स्टेनले मैक्समूलर और ऐसे ही अनेक संतों को सुना है, उसके पास घण्टों बैठना क्यों पसन्द करता हूं । मैं ऐसा अकेला नहीं हूँ बल्कि मुझ जैसे ऐसे दर्जनों हैं जो यही करते हैं ।

संसार के लिए रामकृष्ण की सबसे बड़ी देन अध्यात्मवाद है । उन्होंने वेदों और उपनिषदों के जटिल ज्ञान की सरल व्याख्या करके जन-साधारण के समक्ष रखा और अपने प्राचीन ज्ञान के प्रति श्रद्धा और विश्वास उत्पन्न किया । उन्होंने विश्व को सर्व धर्म समन्वय का सन्देश दिया ।[६०] रामकृष्ण ने मनुष्य मात्र की सेवा और भलाई को ही धर्म कहा है, वह प्रत्येक मनुष्य में ईश्वरांश मानते थे, उनका कहना था कि 'तुम मनुष्य की सेवा करके ईश्वर की सेवा कर रहे हो ।इसलिए मानव मात्र की सेवा करने से ही एक व्यक्ति ईश्वर को प्राप्त कर सकता है । उन्होंने अपने शिष्यों से एक बार कहा कि 'वे मनुष्य पर दया करने की बात करते हैं, यह कितने घमण्ड की बात है कि 'जीव' जो कि स्वयं शिव का स्वरूप है, उस पर दया करने के विषय में सोचा जाय । एक व्यक्ति को दूसरे व्यक्ति को ईश्वर ही समझना चाहिये और सच्चे हृदय से उसकी सेवा करनी चाहिए । न कि उस पर दया दिखाने का दिखावा करना चाहिए ।[६२] भारत तथा उसके साथ ही विदेशों में यहां की सांस्कृतिक परंपरा के प्रति गौरव-भावना जगाते हुए उक्त सांस्कृतिक नवजागरण का कार्य एक व्यापक स्वरूप में उनके शिष्य स्वामी विवेकानन्द द्वारा सम्पन्न हुआ ।

स्वामी विवेकानन्द (पूर्वनाम नरेन्द्रदत्त) ने उपरिनिर्दिष्ट चेतना को सुसंगठित

आन्दोलन का रूप दिया । उनकी शिक्षा-दीक्षा य्यूरोपीय सभ्यता के वातावरण में हुई । तार्किकता की विलक्षण प्रतिभा उनमें थी । किन्तु कालान्तर में श्री रामकृष्ण परमहंस के सम्पर्क में आकर वे उनके शिष्य बन गये । उनकी प्रसिद्धि `उस समय सारे विश्व में एकाएक फैल गयी । जब उन्होंने शिकागो की सर्वधर्म सभा में व्याख्यान देकर श्रोताओं को मंत्रमुग्ध कर दिया । `न्यूयार्क हैराल्ड` ने उन्हें धार्मिक सभा का सबसे महान व्यक्ति कहा और लिखा कि-`उनको सुनने के पश्चात् हमें यह पता चला कि उस विद्वान देश में (भारत में) अपने धर्म- प्रचारकों को भेजना कितनी मूर्खता है ।[63] सन् १८९७ ई० में वे भारत वापस आये । यहां आकर उन्होंने बड़ानगर में रामकृष्ण-मिशन की स्थापना की । आगे चलकर सन् १८९९ ई० में बेलूर का मठ स्थापित किया । उन्होंने संपूर्ण भारत में भ्रमण करके अद्वैत वेदान्त एवं सांस्कृतिक राष्ट्रीय चेतना से परिपूर्ण विचारधारा का अपने व्याख्यानों के माध्यम से प्रचार किया, जो `भारत-में विवेकानन्द` नाम से प्रकाशित पुस्तक में संगृहीत हैं ।

भारत [redacted] भ्रमण में उन्होंने जन-साधारण में व्याप्त दरिद्रता, अज्ञान अन्धविश्वास और हीन मनोवृत्ति का प्रत्यक्ष दर्शन किया और संवेदनशील होकर देशवासियों को विनाश से उबारने का संकल्प किया । इसके साथ ही उन्होंने निर्धनता जाति-प्रथा, कर्मकाण्ड, अन्धविश्वास आदि का विरोध किया । वे अन्धविश्वास को आध्यात्मिक जीवन की सबसे बड़ी बाधा मानते थे । उन्होंने धार्मिक सिद्धान्तों को तर्क की कसौटी पर कसने का प्रयास किया । उनका विश्वास था कि भारत में अपूर्व शक्ति है । जिसे केवल जागृत करने की आवश्यकता है ।

यह उल्लेखनीय है कि उनके द्वारा विदेशों में भारतीय धर्म एवं संस्कृति के महत्व की प्रतिष्ठा ने भारतीय परंपरा के प्रति पाश्चात्य देशों की भ्रान्त धारणा का उन्मूलन किया और दूसरी ओर देश के निवासियों में आत्म-गौरव की भावना का

संचार करके उन्हें अपनी परंपरा से संलग्न रहने की प्रेरणा दी। इससे राष्ट्रीय भावना को एक सुदृढ़ आधार प्राप्त हुआ। देश-भक्ति के साथ-साथ भारतीयों में अतीत के प्रति आस्था की प्रतिष्ठा हुई। दिनकर के मतानुसार इससे राजनैतिक मानसिकता अपने-आप उत्पन्न हुई।[६४] यह उल्लेखनीय है कि यह व्यापक जनजागृति आध्यात्मिकता के अधिष्ठान पर प्रतिपादित है।[६५] उनका यह मत था कि धर्म ही भारत के जातीय जीवन का आधार स्तम्भ है और यदि यह देश विश्व को कोई महान वस्तु दे सकता है तो वह है यहां की आध्यात्मिकता।[६६] यही उनकी दूसरी उपलब्धि है सर्व-धर्म-समभाव, जिसे पूर्ववर्ती विवेचन के अन्तर्गत भी लक्ष्य किया जा चुका है। उनका अध्यात्मवाद व्यावहारिक भौतिक की उपेक्षा नहीं करता। देशवासियों की दीनता एवं निर्धनता के प्रति उन्होंने गहरी संवेदना व्यक्त की है। एक प्रसंग पर उन्होंने कहा था कि-'अपने ही देश में अशिक्षित व भूखी जनता की सेवा न करना देश-द्रोह है। राष्ट्रीय प्रगति के लिये यह आवश्यक है कि देश में फैली हुई गरीबी व दु:ख को दूर करने का प्रयास किया जाय। तब जनता सुखी होगी, तभी वह धर्म की बात सुन सकती है।[६७] उन्हें आध्यात्मिकता की बात तभी समझायी जा सकती है, क्योंकि भारत की इस विशेषता ने ही उसे शताब्दियों के निरन्तर उत्पीड़न के बीच रक्षित किया है।

यह उल्लेखनीय है कि स्वामी विवेकानन्द भारत की सांस्कृतिक परम्परा और आधुनिक युग की अभिनव चेतना के मिलन बिंदु पर स्थित युगपुरुष के रूप में हमारे समक्ष आते हैं। वे जितने वेदान्तवादी या आध्यात्मिक महापुरुष हैं, उतने ही एक समाजवादी विचारक की भाँति दीन और असहाय भारतीय जनमानस के प्रति संवेदनशील भी हैं। वे प्राचीन भारतीय संस्कृति के उत्कृष्ट तत्वों को आत्मसात् करने के लिये आग्रही होने के साथ-साथ अन्तर्राष्ट्रीय आदान-प्रदान के प्रति भी उतने ही उत्साही थे।[६८] अपने देश की सीमा में संकुचित बने रहने की संकीर्ण मनोवृत्ति को वे

राष्ट्रीय जीवन की मृत्यु मानते थे। मानवता के उद्धार के लिये उन्होंने अद्वैत दर्शन को ही एकमात्र उपाय बताया है।[६६] जवाहरलाल नेहरू का यह मत सर्वथा समीचीन कहा जा सकता है कि वे प्राचीन और अर्वाचीन भारत को जोड़ने वाले अपूर्व सेतु की तरह आजीवन कार्य करते रहे।[७०]

स्वामी विवेकानन्द की ही भाँति स्वामी रामतीर्थ ने विदेशों में जाकर भारतीय विचारधारा का प्रचार किया। वे उच्च कोटि के दार्शनिक थे। सन्यासी होने के पूर्व उनका जीवन दार्शनिक प्रवृत्ति के विद्यार्थी तथा तत्पश्चात् प्राध्यापक के रूप में व्यतीत हुआ था। वे व्यवहारिक वेदान्तवाद के समर्थक थे तथा किसी भी बात को उसकी यथार्थता तर्कसम्मत होने की अवस्था में स्वीकार करने के पक्षपाती थे। प्राचीन धार्मिक सिद्धान्तों को केवल उनके पुरातन होने अथवा वर्तमान विचारधारा के केवल नवीनता की विशेषता के कारण स्वीकार करने के समर्थक थे।[७१] इससे प्रकट है कि वे सन्तुलित एवं समन्वयवादी दृष्टिकोण के व्यक्ति थे। एक प्रसंग पर वे कहते हैं कि-'हिमालय से लेकर कन्याकुमारी तक फैला हुआ वह देश मेरा शरीर है। जिसका शीश हिमालय और पैर कन्याकुमारी है। सिन्धु से लेकर ब्रह्मपुत्र मेरे सिर से निकली हैं। गंगा मेरे बालों से बहती है। विंध्याचल मेरा कटिवस्त्र, कारोमंडल और मालाबार मेरे दायें व बायें हाथ हैं। इस प्रकार मैं सम्पूर्ण भारत हूं, पूर्व और पश्चिम मेरी भुजाएं हैं जो मानवता को आलिंगन करने को फैली है।[७२] देश के प्रति पूर्ण आत्मीयता के भाव का यह भव्यतम उदाहरण है, तथा ऐसी भावना के सम्बंध में वे स्वयं कहते हैं कि यह उत्कृष्ट राष्ट्रीयता और व्यावहारिक वेदान्त वास्तविक साक्षात्कार है।[७३] अतः इनकी धार्मिक भावना भी राष्ट्रीय-सांस्कृतिक चेतना से अनुस्यूत कही जा सकती है।

निष्कर्ष : सांस्कृतिक पुनर्जागरण का पूर्वार्द्ध - एक मूल्यांकन :

पूर्ववर्ती पृष्ठों में आधुनिक युग के सांस्कृतिक पुनर्जागरण के प्रारंभिक विकास-क्रम का जो विवरण प्रस्तुत किया गया है, उसके आधार पर संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि राजा राममोहन राय से लेकर स्वामी रामतीर्थ तक के लगभग अस्सी पचासी वर्षों में एक नयी चेतना का सूर्य भारत के पूर्वांचल में उदित हुआ जिसकी प्रकाश किरणें कालान्तर में सम्पूर्ण भारत को आलोकित करती हुई क्रमश: विकीर्ण होती गयीं। सांस्कृतिक चेतना के उद्भव और विकास की इस कालावधि में सन् १८८५ ई० में इंडियन नेशनल कांग्रेस की स्थापना, उसके पूर्व सन् १८५७ ई० का स्वतंत्रता संग्राम या विद्रोह तथा ब्रिटिश साम्राज्य को उलटने के छिट-पुट आतंकवादी प्रयास अवश्य हुए किन्तु इनके द्वारा किसी जनव्यापी चेतना का निर्माण कम से कम सन् १९०५ ई० तक न हो सका। अत: पूर्ववर्ती विवेचन के प्रकाश में यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि उक्त सांस्कृतिक पुनर्जागरण ने वस्तुत: भारतीय जनमानस को जगाने का कार्य किया है।

सांस्कृतिक पुनर्जागरण की यह धारा धार्मिक तथा सामाजिक इन दो प्रधान जीवन पक्षों के कूलों को प्रारंभ में स्पर्श करते हुए प्रवहमान हुई, यद्यपि वह कहीं न कहीं भारत की राष्ट्रीय-सांस्कृतिक चेतना के जीवन स्रोत से जुड़ी भी रही है। एतद्-विषयक निष्कर्ष संक्षेप में इस प्रकार रखे जा सकते हैं -

१- इस चेतना का सूत्रपात धार्मिक सुधार के आन्दोलनों से हुआ जिनमें प्राचीन धर्म साधना की युगानुरूप नयी व्याख्या, इतर धर्मों के तत्वों को अपनाने का उत्साह तथा भारतीयता के प्रति गौरव भावना को जगाने के प्रयास आदि की

प्रवृत्तियों को लक्ष्य किया जा सकता है । इस चेतना में आंशिक रूप से ईसाई मिशनरियों के धर्म प्रचार के प्रति प्रतिक्रिया भी दृष्टिगोचर होती है ।

२- ऐसा प्रतीत होता है कि धर्म भावना के दीर्घकाल भारतीय जीवन चेतना का प्रधान अंग बने रहने के कारण इन युग द्रष्टाओं ने धर्म सुधार का बाह्य आवरण स्वीकार किया होगा ।

३- अंग्रेजी सभ्यता एवं शिक्षा -प्रणाली से आक्रान्त भारतीय जन-मानस को सांस्कृतिक परंपरा से पुन: जोड़ने का यह प्रयास ऐतिहासिक महत्त्व रखता है । इस प्रयास को संचरण शील करने वाले विद्वानों और महापुरुषों में राजा राममोहनराय, स्वामी दयानन्द सरस्वती, स्वामी विवेकानन्द तथा श्रीमती एनी बेसेन्ट के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं ।

४- धर्म सुधार की यह चेतना धारा कालान्तर में राष्ट्रीयता की ओर उन्मुख दृष्टिगोचर होती है । यह राष्ट्रीय चेतना प्रधानतया भारत की सांस्कृतिक परंपरा के प्रति गौरव-भावना से अनुप्राणित थी । श्रीमती एनी बेसेन्ट , बालगंगाधर तिलक प्रभृति अनेक राष्ट्रीय नेताओं के विचारों में इस चेतना को लक्ष्य किया जा सकता है । जिस पर प्रसंगानुसार आगे विचार किया जायेगा ।

५- इस पुनर्जागरण का एक उल्लेखनीय पक्ष समाज-सुधार का है ।

अत: संक्षेप में कहा जा सकता है कि पुनर्जागरण की उपरिनिर्दिष्ट चेतना ने भारतीयों में सांस्कृतिक एकता, आत्म गौरव की भावना, अतीत के प्रति

प्रेम तथा राष्ट्र की सांस्कृतिक विरासत की रक्षा के प्रति सजगता का विकास किया। इन सभी प्रवृत्तियों को परवर्ती काल के राष्ट्रीय आंदोलन की आधार शिला कहा जा सकता है और इसी आधार शिला के साथ-साथ नये राजनैतिक, सामाजिक तथा आर्थिक परिवेश में आधुनिक भारत का निर्माण हुआ। कवि रामधारी सिंह दिनकर की समकालीन युगीन चेतना उक्त पृष्ठभूमि पर अधिष्ठित होकर कालान्तर में परवर्ती युग के राष्ट्रीय -सांस्कृतिक जागरण से प्रभावित रही है। अत: उस पर भी यहां संक्षेप में विचार किया जा रहा है।

परवर्ती राष्ट्रीय आन्दोलन तथा सांस्कृतिक जागरण :

पूर्ववर्ती विवेचन के अन्तर्गत सांस्कृतिक पुनर्जागरण द्वारा राष्ट्रीय चेतना के निर्माण में योगदान को हम लक्ष्य कर चुके हैं। ईस्वी सन् की बीसवीं शताब्दी में आरम्भ में देश में कतिपय ऐसी महत्त्वपूर्ण घटनाएं घटित हुईं। जिन्होंने भारतीय जनता को उक्त वैचारिक क्रांति के साथ-साथ राष्ट्रीय आन्दोलन तथा क्रान्ति द्वारा देश को स्वतंत्र कराने की दिशा में अग्रसर किया। इस बीच सन् १९०५ में भारत के वायसराय लार्ड कर्जन ने बंगाल का विभाजन किया। इसके विरुद्ध बंगाल की जनता में ही तीव्र असन्तोष व्याप्त नहीं हुआ, अपितु वह देशव्यापी बन गया। बीसवीं शती के प्रथम दशक ने एक साथ तीन नेताओं के व्यक्ति तत्वों को प्रस्तुत किया है, जो संक्षेप में लाल, बाल और पाल के नाम से प्रसिद्ध हैं- पंजाब के लाला लाजपतराय महाराष्ट्र के बालगंगाधर तिलक तथा बंगाल के विपिन चन्द्रपाल। इनकी लोकप्रियता प्रादेशिक सीमाओं को तोड़कर अखिल भारतीय बन गयी, किन्तु युग चेतना के व्यापक निर्माण में लोकमान्य तिलक का महत्त्व सर्वोपरि है।

लोकमान्य तिलक उनमनीषियों में से हैं, जिन्होंने उक्त सांस्कृतिक नवजागरण

के साथ-साथ भारतवर्ष की पूर्ण स्वतंत्रता का उद्घोष किया और कालान्तर में इस उद्घोष में स्वाधीनता-संघर्ष का पक्ष प्रधान बन गया । उन्नीसवीं और बीसवीं शताब्दी के संधिकाल में लोकमान्य तिलक ही पहले राजनीतिज्ञ थे । जिन्होंने जीवन के भौतिक और आध्यात्मिक अंगों में समन्वय स्थापित करते हुए सर्व-साधारण की धार्मिक मान्यताओं को व्यापक एवं गुणग्राही रूप प्रदान करने की चेष्टा की । वे भारतीय दर्शन तथा संस्कृति के पोषक तो अवश्य थे, किन्तु वे साथ ही जनता का अकर्मण्यता से बचे रहने के लिए उद्बोधन करते थे ।[७४] इसी के लिए उन्होंने भगवद्गीता की कर्म-योगात्मक व्याख्या की, जिससे देशवासियों को स्वातन्त्र्य संग्राम के लिए उचित प्रेरणा और प्रोत्साहन मिल सके । भारत जैसे प्राचीन और महान संस्कृति वाले देश को अपने अतीत से प्रेरणा मिल सके । इस विषय पर राष्ट्रकवि दिनकर का यह कथन अत्यन्त समीचीन कहा जा सकता है- 'वास्तव में राममोहन से लेकर विवेकानन्द तक भारतीय दर्शन का जो विपुल मन्थन हुआ था, कर्मयोग शास्त्र में हम उसका तर्कसम्मत दार्शनिक रूप देखते हैं ।[७५] वे अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों के रचयिता 'केसरी' और 'मराठा' आदि पत्रों के सम्पादक थे । ईसाइयों के धर्म प्रचार का उन्होंने खुलकर विरोध किया । उनका विशेष योगदान कांग्रेस की प्रवृत्तियों को पूर्ण स्वराज्य की ओर मोड़ देने में है । तिलक राजनीतिक स्वतंत्रता को प्रधान मानते थे और सामाजिक सुधारों को गौण, वह इस विचार से सहमत नहीं थे कि सामाजिक रूढ़िवादिता के कारण राजनीतिक पराधीनता हुई ।[७६] उन्होंने भारत की प्राचीन संस्कृति के बल पर ही आगामी राष्ट्रीय स्वतंत्रता आंदोलन में डटकर भाग लिया । श्री अरविन्द घोष की यह बात तिलक के लिए महत्त्वपूर्ण लगती है-'तिलक स्वदेशी अथवा स्वराज्य आंदोलन को भारतीय धर्म और संस्कृति से सम्बद्ध कर देना चाहते थे । वे भारत की भावी महत्ता को उसके अतीत की महत्ता पर आधारित करना चाहते थे ।[७७] अत: पूर्व निर्दिष्ट सांस्कृतिक पुनर्जागरण को गतिशील बनाते हुए उसे राष्ट्रीयता की ओर उन्मुख करने का यह प्रयास निश्चय ही ऐतिहासिक महत्त्व रखता है ।

उग्रवादी दल में तिलक के साथ लाला लाजपतराय और विपिनचन्द्र पाल का नाम भी स्मरणीय हैं। इन नेताओं का उद्देश्य भारत की प्राचीन सभ्यता एवं संस्कृति को पाश्चात्य सभ्यता से श्रेष्ठ बनाकर भारतीयों के मानस-पटल पर राष्ट्रीय चेतना और गौरव की भावना उत्पन्न करना था। 'पंजाब केशरी' लाला लाजपतराय आर्य समाज के प्रमुख नेता थे। अपने देश की सभ्यता एवं संस्कृति पर उन्हें स्वाभिमान था। इसलिए वे देश को स्वतन्त्र बनाकर उन्नत बनाना चाहते थे। उन्होंने अंग्रेजीपत्र 'पंजाबी' उर्दू पत्रिका 'वन्देमातरम्' तथा अंग्रेजी साप्ताहिक 'दि पीपुल' ( The People ) के माध्यम से देश की सुप्त भारतीयता को जागृत करने का प्रयास किया। सन् १९०५ ई० में बंग-भंग की नीति को निरर्थक करने के लिए उन्होंने गोखले के साथ इंगलैण्ड जाकर अथक परिश्रम किया, किन्तु परिणाम सन्तोषजनक न रहा। इससे विक्षुब्ध होकर वे भारत वासियों से कहते हैं -'भारतीयों को भिखारी बनकर अंग्रेजों की कृपा के लिए नहि गिड़गिड़ाना नहीं चाहिए, अपितु उन्हें अपनी उन्नति के लिए आत्म-विश्वासी और स्वावलम्बी होना है।[७८] जीवन पर्यन्त वे स्वाधीनता के लिए लड़ते रहे। सन् १९२८ ई० में 'साइमन कमीशन' के उग्र विरोध के समय अंग्रेजों के निर्दयतापूर्ण व्यवहार से उनके सिर में लाठी लगी और १७ दिन बाद उनकी मृत्यु हो गयी। उनके इस बलिदान ने आतंकवादी आन्दोलन या सशस्त्र क्रान्ति को अपूर्व प्रेरणा दी। राष्ट्रीय कार्यों को प्रोत्साहन देने में उनका नाम अविस्मरणीय है। 'लाल-बाल-पाल' की त्रिमूर्ति के एक सदस्य विपिनचन्द्र पाल भारत के प्रसिद्ध उग्रवादी नेता थे। उन्होंने आध्यात्मिक एवं भावात्मक राष्ट्रवाद की कल्पना देश-वासियों के समक्ष रखी, जो पश्चिम की राष्ट्रीयता से कहीं भिन्न थी और वह इस देश को उनकी मौलिक देन थी। देश भक्ति और राष्ट्र भक्ति का अन्तर उन्हें स्पष्ट था।[७९] उनके प्रभावशाली व ओजस्वी लेख जो कि 'वंदेमातरम्' व 'पंजाबी' में प्रकाशित होते थे, प्रतीक्षारत आकुल जनता द्वारा उत्सुकता से पढ़े जाते थे। वे तिलक के प्रमुख सहायक के रूप में कार्य करते रहे। सन् १९३२ में उनकी मृत्यु हो गयी।

बंग-भंग आंदोलन के इस त्रिमूर्ति ने प्रकारान्तर से भारत की अखंडता की चेतना का संचार किया है ।

उपर्युक्त नेताओं के पश्चात एक ओर महात्मा गांधी ने राष्ट्रीय जन-जागरण का नेतृत्व किया तो दूसरी ओर क्रांतिकारियों के आतंकवादी प्रयास स्वाधीनता की प्राप्ति तक निरन्तर होते रहे । देश में सामाजिक, आर्थिक,राजनीतिक आदि विविध विचार-पक्षों से सम्बद्ध आंदोलन तथा वैचारिक मन्थन होते रहे । इन समस्त प्रवृत्तियों की चेतना राजनीति से अधिक जुड़ी रही है । प्रकारान्तर से अतीत के प्रति गौरव और अभिमान की भावना तथा समाज-सुधार, हरिजन-उत्थान आदि के प्रयास भी होते रहे । यद्यपि इस कालखण्ड के सर्वोच्च नेता गांधी जी उक्त नव जागरण से वैचारिक रूप से जुड़े रहे, तथा पूर्ववर्ती सांस्कृतिक नवजागरण की चेतना उक्त राजनीतिक प्रयासों की तुलना में अत्यल्प मात्रा में हुई, किन्तु दूसरी ओर सांस्कृतिक नवोत्थान का एक प्रयास भी अरविन्द के दर्शन में दृष्टिगोचर होता है । अत: इसकी संक्षिप्त चर्चा यहां आवश्यक है ।

अरविंद उच्च कोटि के साधक तथा विद्वान थे । जिन्होंने राष्ट्रीय भावना से ओतप्रोत हो क्रांतिकारी का जीवन बिताने के पश्चात् अपना शेष जीवन पांडिचेरी के आश्रम की स्थापना करके आध्यात्मिक साधना में बिता दिया था । यहीं रहकर उन्होंने अध्यात्म की गुरुगम्भीर व्याख्या को समझा तथा समझाया । उनका 'सावित्री' महाकाव्य बीसवीं शताब्दी की एक उत्कृष्ट काव्य कृति है । 'फाउन्डेशन आफ इंडियन कल्चर' ( Foundation of Indian culture ) में उनके विचारक तथा गम्भीर अध्येता का व्यक्तित्व प्रकाश में आता है । उनके मतानुसार आध्यात्मिकता की भावना भारतीय मनीषा की कुंजी है किन्तु उसकी भौतिक शक्ति नहीं के बराबर है । यदि अपनी आध्यात्मिकता के तेज से देदीप्यमान शरीर में भौतिक शक्तियों का भी विलय कर दे तो जिस संस्कृति का निर्माण होगा वह

विश्व संस्कृति ही होगी किन्तु वे फिर भी भारतीय संस्कृति को सर्वतोभावेन श्रेष्ठ ही समझते हैं । उनका कहना था कि-'भारतीय संस्कृति ने सर्वप्रकार के भौतिक, विज्ञान के उपकरणों का संधान करके भी यह देखा कि जीवन के लिए वे ही सार-सर्वस्व नहीं हैं और इसके लिए उन्होंने अपनी दृष्टि को भौतिक जीवन से भी ऊपर उठाया, क्योंकि उन्होंने देखा कि उन सबके पीछे भी एक महान् शक्ति छिपी हुई है और इस तथ्य का संधान कर यहां के मनस्वी उसी की उपलब्धि में संलग्न हुए ।[८०] इसका प्रत्यक्ष प्रमाण देश का गत तीन सहस्त्र वर्षों का इतिहास है । जिसमें भारतीयों में ज्ञान, कला, विज्ञान, राजनीति, अर्थनीति आदि जीवन के सभी क्षेत्रों में प्रवीणता प्राप्त करके भी उन सभी को आध्यात्मिकता से अनुप्राणित किया था ।[८१] अरविंद ने अपनी पुस्तकों में भारतीय धर्म-साधना के प्राचीन ज्ञान को प्रकाश में लाने का महान प्रयास किया है । और आधुनिक भौतिकवादी युग में भारतीय संस्कृति की श्रेष्ठता[८२] तथा देश की समस्त राष्ट्रीय समस्याओं के समाधान में आध्यात्मिकता की भावना को सहायक माना है ।[८३] वे पूर्व और पश्चिम के बीच एक समन्वय रेखा बन गये हैं । पूर्ण अनासक्त होकर भी वे वैराग्य ग्रहण कर जीवन से पलायन नहीं सिखलाते । वे धर्म को वैज्ञानिक और विज्ञान को धर्म बनाकर कर्मठ जीवन का संदेश देते हैं ।[८४] उनकी इसी वाणी को सफलीभूत करने के लिए भारतीय सांस्कृतिक पुनर्जागरण के मंच पर गांधी जी अपनी समस्त गुणग्राहिता लेकर अवतरित हुए । अतः निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि पूर्व निर्दिष्ट सांस्कृतिक नवजागरण के श्री अरविंद एक महान व्याख्याता एवं मनीषी दार्शनिक थे ।

राजाराम मोहनराय से लेकर अरविंद व रवीन्द्र तक सभी नेता सांस्कृतिक व धार्मिक थे, किन्तु राजनीतिक नेता के रूप में सर्वप्रथम उन्हीं का दर्शन होता है । राष्ट्रीयता का आह्वान करने में उसे प्रत्येक के हृदय में बसाने का कार्य गांधी जी ने किया । पहले पहल यह कार्य सांस्कृतिक -राष्ट्रीयता के रूप में दिखायी पड़ा । लोगों के हृदय में यह भावना उत्पन्न हुई कि हम इस सभ्यता व संस्कृति के उत्तराधिकारी

हैं, जिन्हें ऊंची मानवता वरण करती है । इस चेतना के फलस्वरूप ही भारत में राजनैतिक राष्ट्रीयता का जन्म हुआ । उपर्युक्त सांस्कृतिक पुनर्जागरण के इन मनस्वी लोगों के सतत् प्रयास का यह शुभ परिणाम था । इसीलिए ऐसा लगता है कि मानों, गांधी जी के परवर्ती अभियान को सम्भव बनाने के लिए ही राममोहन ने सांस्कृतिक जागरण आरम्भ किया हो । लगभग सौ वर्षों तक इस आध्यात्मिक देश ने जो आत्ममंथन किया । पराधीनता की ग्लानि को धोने के लिए अपनी श्रेष्ठ शक्तियों का जो चिंतन और मनन किया, गांधी जी उसी तपस्या के वरदान बनकर प्रकट हुए । नवोत्थान से प्रेरित भारत अपनी स्वाधीनता को तो खोज ही रहा था साथ ही वह विश्व की समस्याओं के समाधान पर भी विचारशील था । महात्मा गांधी ने उसकी दोनों कामनाएँ पूर्ण कीं ।[८५]

महात्मा गांधी का भारतीय संस्कृति के प्राय: समस्त पत्तों पर अपने रूप में अपना विशिष्ट स्थान है । उनका आविर्भाव सांस्कृतिक नवोत्थान के फलस्वरूप ही हुआ, किन्तु उन्होंने अपनी विराट चेतना एवं अपूर्व मेधा शक्ति के कारण काल को ही अपने अनुरूप परिवर्तित कर लिया । जैसा कि हम लक्ष्य कर चुके हैं कि वस्तुत: महात्मा गांधी का आविर्भाव आकस्मिक घटना नहीं है। वरन् राजा राममोहनराय से लेकर तिलक तक के सांस्कृतिक समुत्थान के जीवित प्रयत्नों का ही प्रकाश पुंज है । जिसने भारतीय जीवन को एक नयी दिशा प्रदान की है और भारतीय सांस्कृतिक चेतना को एक नया मोड़ दिया है । यही कारण है कि भारतीय समाज में गांधी के उदय के साथ ही देश की प्राय: समस्त विभिन्न और विविध धाराएँ उन्हीं का अनुसरण करने लगीं । तथा उन्हें गांधी के स्वर में समयोचित अभिव्यक्ति मिलने लगी । उन्होंने जब से भारतीय जीवन में प्रवेश किया और जब तक वे भारतीय मंच पर रहे, तब तक चेतना के समस्त स्तर एवं जीवन के समस्त पत्तों पर उनका प्रभाव अंकित रहा । उन्होंने भारतीय इतिहास को अपने इंगित पर अपने ढंग से परिवर्तित कर लिया । इस विषय पर एक अंग्रेज विद्वान ने भी उनके विषय में उपर्युक्त बात कही है ।[८६]

भारतीय स्वतन्त्रता आंदोलन में महात्मा गांधी का सर्वश्रेष्ठ अवदान अंग्रेजों के विरुद्ध संघर्ष में अहिंसा को अपनाना है । स्वाधीनता तो उनकी दृष्टि में थी ही, पर उनका प्रमुख उद्देश्य मानव-स्वभाव में परिवर्तन लाना था । मनुष्य को यह विश्वास दिलाना था कि जिन ध्येयों की प्राप्ति के लिए वह पाशविक साधनों का सहारा लेता है, वे ध्येय मानवोचित साधनों से भी प्राप्त किए जासकते हैं ।[८७] उनकी अहिंसा क्रियाशील शक्ति है । उसमें कायरता और दुर्बलता के लिए स्थान नहीं है । गांधी जी की अहिंसा कायिक, वाचिक और बौद्धिक थी । इसी कारण उसमें दुराग्रह नहीं था । वस्तुत: जैनों के अनेकान्तवाद को ही उन्होंने नवीन पृष्ठभूमि में प्रस्तुत किया । उनका अनेकान्तवाद सत्य और अहिंसा इन युगल सिद्धान्तों का परिणाम है ।

महात्मा गांधी ने समाज और राजनीति को धर्म से अलग न रखकर उन्हें धर्म से जोड़ा । जीवन के उत्थान शील होने में उन्होंने धर्म को आवश्यक माना है । जीवन के सभी क्षेत्रों में शिक्षा, संस्कृति, कला, विज्ञान, व्यापार उद्योग आदि में उन्होंने धर्म के महत्व को स्वीकार किया तथा धार्मिकता और धर्म निरपेक्षता की विभेदक रेखा को स्वीकार नहीं किया । ज्ञान के स्तर पर रामकृष्ण परमहंस, विवेकानन्द, लोकमान्य और अरविन्द ने जो दर्शन तैयार किया था, उसे कार्य में परिणत करने वाले पुरुष गांधी जी ही हो सकते थे ।[८८] उन्होंने व्यक्ति की मुक्ति की साधना न करके समाज की मुक्ति की साधना की । उनका यह मत था कि प्रत्येक व्यक्ति यदि अपने आपको सुधार ले, तो पृथ्वी स्वयमेव स्वर्ग बन जायेगी ।

नर-नारी के सम्बंध को लेकर गांधी जी का निर्भ्रान्त मत है कि नर और नारी, दोनों का अस्तित्व एक दूसरे से स्वतंत्र है और दोनों अपने-अपने व्यक्तित्व का विकास करने के लिए जन्म लेते हैं । यदि रूप, सौन्दर्य तथा आधिभौतिक सुखों के लोभ में आकर वे परस्पर मिलते हैं, तो यह उच्च मिलन नहीं है । दोनों में आत्म-

विकास की व्याकुलता होनी चाहिए जिसका साधन समाज सेवा और स्वार्थ त्याग है। विवाह को वे बहुत आवश्यक नहीं मानते। किन्तु यदि विवाह हो भी तो दोनों का आनन्द बौद्धिक मिलन अथवा आध्यात्मिक समीपता का आनन्द होना चाहिए। नारी जो त्याग, दया, ममता और सहिष्णुता की मूर्ति है, उसे अपने व्यक्तित्व के विकास के लिए स्वयं प्रयत्न करना चाहिए। उनका मानवता वादी दृष्टिकोण नारी की उपर्युक्त विशेषताओं पर ही आधारित था। उन्होंने नारीत्व को भौतिक एवं आध्यात्मिक मुक्ति का प्रेरणा स्रोत बतलाया।

गांधी जी शुद्ध धार्मिक व्यक्ति थे, जिन्हें राजनीति के क्षेत्र में रहना पड़ा।[८९] उनकी दृष्टि में धर्म वही हो जो नैतिक भावना और बुद्धि के विरुद्ध न हो। अपने धार्मिक विचारों में वे नितान्त मौलिक थे। उन्होंने धर्म के सम्बंध में जो कुछ कहा है। वह उनके अनुभव का विषय रहा है। इसी कारण उनके विचारों में सच्चाई और वैधकता मिलती है। वैसे उनका सारा जीवन ही ईश्वर के प्रति उनकी गहन आस्था की अभिव्यक्ति था। यह युग प्रबुद्ध लोगों का था किन्तु इस बौद्धिक युग में भी वे आध्यात्मिकता के उद्घोषक थे। एवं मानवता चिंतन के परिप्रेक्ष्य में सांस्कृतिक मूल्यों की प्रतिष्ठा के आग्रही थे।[९०]

गांधी जी ने राम को निराकार माना है, किन्तु वे शंकराचार्य के अद्वैत को पसन्द नहीं करते। वे वैष्णव श्रेणी के भक्त थे और प्रपत्ति तथा शरणागति में उनका अटल विश्वास था। सिद्धान्ततः वे द्वैत अथवा विशिष्टाद्वैत विश्वासी वैष्णव भक्त थे। उन्होंने स्वयं अद्वैतवाद और द्वैतवाद दोनों का समर्थन किया है और इस तरह अपने आपको अनेकान्तवादी या स्याद्वादी घोषित किया है किन्तु यह अनेकान्तवाद और स्याद्वाद उनका अपना है। निष्कर्षतः हम कह सकते हैं कि वस्तुतः गांधी धर्म वह धर्म है, जिससे प्रत्येक धर्म की धार्मिकता में वृद्धि होती है।

गांधी जी का पूरा जीवन एक महान स्रष्टा का जीवन है । जीवन के समस्त पक्षों पर उनके विचार मिलते हैं वह आधुनिक युग के संत थे जिनकी ईश्वराधना निर्बलों को ऊपर उठाने में थी । पं० शान्तिप्रिय द्विवेदी का यह कथन समीचीन प्रतीत होता है-'वह (गांधी) आत्मा का कवि हैं, सत्य उसकी वीणा है, विश्व वेदना उसकी रागिनी, अहिंसा उसकी टैक और करुणा रस है । संस्कृति उसकी स्वरलिपि है । प्रभु उसका आलम्बन या अवलम्बन है । जनता इसका उपकरण है । विश्व उसका काव्य है । कर्म उसके अक्षर हैं, संयम नियम उसके छन्द ।[६१]

इस प्रकार हम देखते हैं कि नवजागरण काल के मनीषियों द्वारा जो महत्त्वपूर्ण तथ्य हमारे समक्ष आते हैं, उनमें बौद्धिक चिंतन पर आधारित मानवीय दृष्टि की प्रतिष्ठा करना है । धर्म को उन्होंने मानव हित व अनुभूति का विषय बनाया । प्राचीन परंपराओं को युगबोध के सन्दर्भ में विश्लेषित किया गया । सांस्कृतिक नवजागरण की सबसे महत्त्वपूर्ण उपलब्धि 'स्व' की चेतना को उद्भूत करना है । जिससे भारतीय अपनी संस्कृति से रागात्मक सम्बन्ध जोड़ सके । उपर्युक्त विद्वानों के प्रयासों के फलस्वरूप ही यह प्रसार हो पाया । विवेकानन्द के वेदान्तवाद ने यह बताया कि आत्मा सदा मुक्त है और एक कण में भी अनन्त शक्ति का श्रोत छिपा हुआ है । इससे भारत वासियों की आत्मग्लानि की भावना दूर होकर आत्म स्वातंत्र्य की भावना में परिणित हो गयी । यह परिवर्तन सामाजिक स्तर पर ही नहीं हुआ, अपितु हिन्दी साहित्य भी एक लम्बे समय तक इससे प्रेरणा ग्रहण करता रहा । तत्कालीन साहित्य में भी यह सभी बातें लक्षित होती हैं । डॉ० महेन्द्रनाथ का यह कथन ठीक ही है कि-'एक ओर सांस्कृतिक नवोत्थान जहां पुराने सामन्ती जीवन मूल्यों से विद्रोह करता था, वहीं सर्जनात्मक स्तर पर नये मानव-मूल्यों एवं ऊर्ध्वमुखी आध्यात्मिक विकास से सम्पन्न मानव सृष्टि की आकांक्षा भी वह अपने हृदय में संजोए हुए था ।[६२]

मध्यकाल में साहित्य एक विशिष्ट वर्ग का ही द्योतन करने में समर्थ था। नव-जागरण काल में यह परंपरा टूट चली अब साहित्य वर्ग-विशेष का न रहकर सामान्य जन की आकांक्षाओं, सुख-दुःख स्वप्न तथा कल्पना को अभिव्यक्ति देने में सशक्त माध्यम बना। मध्यकाल का परवर्ती साहित्य स्वस्थ मनोदृष्टि व यथार्थ जीवन-दर्शन की संकीर्णता के कारण व्यापक मनोभूमि से शून्य था। उसमें यथार्थ जीवनानुभूति एवं उदात्त मन: सृष्टि का सर्वथा अभाव था तथा चमत्कार की ही श्रेष्ठता थी। नवजागरण ने साहित्य एवं कला को सामान्य जीवन-बोध के सम्पर्क में लाने का उपक्रम किया। जो महान कार्य भक्तिकाल के अनेक कवियों तथा युग द्रष्टाओं ने किया था।

यह ध्यान देने की बात है कि भारतीय धर्म प्राण समाज यूरोपीय समाज की संकीर्ण व्यक्तिवादी चेतना व विलासतापूर्ण भौतिकता से संचालित नहीं हो सकता था। विवेचित काल की सांस्कृतिक व्याख्या आध्यात्मिक मूल्यों के सन्दर्भ में हुई। गांधी जी की राजनीति अवधारणा का धार्मिक चेतना से पुष्ट होना इसी बात का प्रमाण है। नवजागरण की इस चेतना का तत्कालीन भारतीय साहित्य एवं साहित्यकारों की मनोभूमि पर क्रांतिकारी प्रभाव पड़ा और वस्तु जगत को देखने की नवीन उदात्त दृष्टि का विकास हुआ। साहित्यकार रीतिकालीन सामन्ती चेतना की रुग्ण परंपरा को छोड़कर नवीन मानवता पूर्ण साहित्य की सर्जना करने को तत्पर हुए। उनकी निर्जीव लेखनी चित्रकार की तूलिका की भाँति तत्कालीन साहित्य को साकार करने तथा उसके यथार्थ चित्रांकन में समर्थ बनी। वे धर्म के आडम्बरों का गाना, सामन्तों की प्रशंसा के गीत, विलासपूर्ण वातावरण से सम्बद्ध नायिका के सौन्दर्य, हाव-भाव आदि के पारम्परिक मोह को छोड़कर अशेष मानवता के सुख-दुःख, आर्थिक विषमता और युगीन राष्ट्रीय भावना को अभिव्यंजित करने लगे।

इस प्रकार कला एवं साहित्य युग बोध से अनुप्राणित हो उठे। आधुनिक हिन्दी

कविता इसी भावना और चेतना से अनुस्यूत होकर विविध धाराओं में प्रवाहित हो उठी जिसका सम्यक् आकलन प्रस्तुत शोध प्रबन्ध के प्रतिपाद्य तथा प्रकारान्तर से दिनकर की काव्य की भावभूमि के मूल्यांकन के लिए अत्यावश्यक है । परवर्ती अध्याय का विवेचन उक्त संकेत को प्रमाणित करता है ।

--

सन्दर्भ - संकेत :


१- डा० एल० पी० शर्मा, आधुनिक भारतीय संस्कृति, प्रथम संस्करण, अध्याय ८, पृ० १०४, शीर्षक- भारतीय संस्कृति को अंग्रेजी शासन की देन ।

२- डा० महेन्द्रनाथ राय, नवजागरण और छायावाद, प्रथम अध्याय, पृ०२६, शीर्षक- नवजागरण की पीठिका ।

३- Major B.D.Basu,The rise of christion power in India, Chapter IXIX, Page 803,Macaulay in India

४- डा० एम० एस० जैन, आधुनिक भारत का इतिहास, पृ० २६७ अध्याय ६, शीर्षक- सामाजिक गतिशीलता समाज तथा धर्म सुधार आंदोलन

५- J.L.Nehru,The Discovery of India,Page 313

६- डा० कमला कानोड़िया, भारतेन्दु कालीन हिन्दी साहित्य की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि, प्रथम संस्करण १६७१, अध्याय-४, पृ० १०८,शीर्षक-आर्थिक, पृष्ठभूमि ।

७- द्रष्टव्य- वही, पृ० १०६

८- डा० एल पी शर्मा, आधुनिक भारतीय संस्कृति, पृ० ११०

९- डा० शंभुनाथ सिंह, हिंदी काव्य की सामाजिक भूमिका, पृ० १५२

१०- तर्क० तीर्थ पं० लक्ष्मण शास्त्री जोशी, हिन्दू धर्म की समीक्षा, पृ०१४६ हिन्दू धर्म के आधुनिक संस्करण ।

११- Will dûrent,From Rammonand to Ramtirth,Page-194 Swami Dayanand Sarswati,His view of the society

१२- डा० हुकुमचन्द्र राजपाल, आधुनिक काव्य में नवीन जीवन मूल्य, पृ० १०२

१४- DR.D.N.Roy. The spirit of Indian Civilization I Edition 1938,

विस्तृत विवरण के लिए देखिये- पृ० २३०-२३२

१५- Dr.Radha Krishnan,The heart of Hindustan Page-140.141, Indian Philosophy,Chapter-V

१६- डा० हुकुमचन्द्र राजपाल, आधुनिक काव्य में नवीन जीवन मूल्य, पृ० १०५

१७- प्रो० हरिदत्त वेदालंकार, भारत का सांस्कृतिक इतिहास, १४वां अध्याय, आधुनिक भारत, पृ० २४७, ब्रह्म समाज

१८- डा० शंभूनाथ सिंह, हिन्दी काव्य की सामाजिक भूमिका, पृ० १६१

शीर्षक- आधुनिक काल

१९- हरिभाऊ उपाध्याय, आधुनिक भारत, पृ० ५४

२०- डा० शंभूनाथ सिंह, हिन्दी काव्य की सामाजिक भूमिका, पृ०१६१

२१- वही, देखिए- पृष्ठ वही ।

२२- D.S.Sharma,Hinduism through the ages,Chapter-X,Page-69 Ram Mohan Roy & Brahm Samyx Samaj

२३- Major B.D.Basu, The rise of christion power in India, Page 792

२४- दिनकर, संस्कृति के चार अध्याय, पृ० ५४१, चतुर्थ अध्याय, द्वितीय संस्करण, १९७७

२५- डा० शंभूनाथ सिंह, हिन्दी काव्य की सामाजिक भूमिका, पृ० १६२

२६- दिनकर, संस्कृति के चार अध्याय, पृ० ५४०-चतुर्थ अध्याय

२७- D.S.Sharma,Hinduism through the ages,page 73,Chapter X

२८- वही, पृ० ७३

२९- वही, पृष्ठ-वही ।

३०- डा० एल पी शर्मा, आधुनिक भारतीय संस्कृति, अध्याय-९ पृष्ठ-११५

३१- वही, पृ० ११६

३२- 'इन महानुभावों ने इस बात की दृढ़ता से प्रचार किया कि भारतीय धर्म और संस्कृति ईसाई धर्म और संस्कृति से कहीं ब श्रेष्ठ है ।' देखिए- डा० एल० पी० शर्मा, आधुनिक भारतीय संस्कृति, पृ० ३७

३३- वही, पृ० वही ।

३४- D.S.Sharma,Hinduism through the ages,Chapter V,Page 84

३५- द्रष्टव्य- वही, पृ० ८७

३६- एम॰एस॰जैन, आधुनिक भारत का इतिहास, पृ० २०२

३७- डा० एल.पी.शर्मा, आधुनिक भारतीय संस्कृति, पृ० ३४

३८- प्रो० हरिदत्त वेदालंकार, भारत का सांस्कृतिक इतिहास, पृ० २४८

३९- हरिभाऊ उक उपाध्याय, आधुनिक भारत, पृ०६४-६५ शीर्षक- भारतीय संस्कृति का तत्व मंथन ।

४०- Will durent-From Ramanand to Ramtirth,Pag3 194 'How to consolidate and reorganise.

४१- D.S.Sharma,Hinduism through the ages,Chapter VII,Page-100-101

४२- दिनकर, संस्कृति के चार अध्याय, पृ० ५५३

४३- वही, द्रष्टव्य-वही ।

४४- वही, पृष्ठ- ५५४

४५- हरिभाऊ उपाध्याय, आधुनिक भारत, पृ० ६०

४६- D.S.Sharma,Hinduism through the ages-Chapter XII,Page 98

४७- डा० एल पी शर्मा, आधुनिक भारतीय संस्कृति, पृ० ४२

४८- डा० शंभूनाथ सिंह, हिन्दी काव्य की सामाजिक भूमिका, पृ० १६३

४९- डा० एल पी शर्मा, आधुनिक भारतीय संस्कृति, पृ० ४२

५०- डा० विद्यानाथ गुप्त, हिन्दी कविता में राष्ट्रीय भावना, पृ० २०६

५१- डा० एल पी शर्मा, आधुनिक भारतीय संस्कृति, पृ० ४२

५२- वही, द्रष्टव्य, पृ० ४६

५३- डा० महेन्द्रराय, नवजागरण और छायावाद, पृ० ३२

५४- हरिभाऊ उपाध्याय, आधुनिक भारत, पृ० ६१

५५- D.S.Sharma,Hinduism through the ages,page 116,Chapter XIV

५६- वही, पृ० ११७-११८

५७- वही, पृ० ११९

५८- हरिदत्त वेदालंकार, भारत का सांस्कृतिक इतिहास, पृ० २५१

५९- दिनकर, संस्कृति के चार अध्याय, पृ० ५६७

६०- डा० एल पी शर्मा, आधुनिक भारतीय संस्कृति, पृ० ५०

६१- श्री रामकृष्ण उपदेश, नवम् संस्करण, पृ० १०७

६२- श्री रामकृष्ण देव की वाणी, पृ० २३

६३- डा० एल पी शर्मा, आधुनिक भारतीय संस्कृति, पृ० ५३

६४- दिनकर, संस्कृति के चार अध्याय, पृ० ५६३

६५- स्वामी विवेकानन्द, विविध प्रसंग, संपादित-पृ० १४

६६- Swami Vivekanand_From Colombo to Almora,Page_34

६७- डा० नरवणे, आधुनिक भारतीय चिन्तन, पृ० १०८

६८- डा० एल पी शर्मा, आधुनिक भारतीय संस्कृति, पृ० ५८

६९- J.L.Nehru . The Discovery of India Page 337,Reform and other movement among Hindus & Muslims

७०- वही, पृ० ३३६

७१- Extracted from_Will durent_North India Saint's, Swami Ramtirth and his teachings. Religion and marals_Pge 152

७२- वही, पृ० २५१

७३- वही, पृ० २५२

७४- भगवतीशरण सिंह, लोकमान्य तिलक, पृ० २७

७५- दिनकर, संस्कृति के चार अध्याय, पृ० ६०१

७६- डा० एम एस जैन, आधुनिक भारत का इतिहास, पृ० ३४३

७७- भगवतीशरण सिंह, लोकमान्य तिलक, पृ० ३२

७८- डा० गौरीनाथ रस्तोगी, भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन, उग्रवादी युग,पृ० ४८

७९- वही, पृ० वही ।

८०- Extracted from_Kewal Motwani,India a synthesis of Culture, Chapter_II,Foundation of India Culture,Page_174,Topic_ Indian Culture_Prominent spirituality.

८१- द्रष्टव्य-वही, पृ० १७६

८२- वही, पृष्ठ-वही ।

८३- Aurobindo-On our National Problems.

८४- डा० सन्तोषकुमार तिवारी-छायावादी काव्य की प्रगतिशील चेतना,पृ०४६

८५- दिनकर-संस्कृति के चार अध्याय-पृ० ६२०

८६- 'I supposed there can be few men in all history.Who by their personal character and example have been able so deeply to influnce the thought of their generation'
-Lovd Halifox.

उद्धृत- डा० एल पी शर्मा, पृ० ७६

८७- दिनकर, संस्कृति के चार अध्याय- पृ० ६१८

८८- डा० महेन्द्रनाथ राय, नवजागरण और छायावाद, पृ० ८२

८९- दिनकर, संस्कृति के चार अध्याय, पृ० ६३५

९०- डा० महेन्द्रनाथ राय, नवजागरण और छायावाद पृ० ७८

९१- पं० शांतिप्रिय द्विवेदी, सामयिकी, पृ० ३००

९२- डा० महेन्द्रनाथ राय, नवजागरण एवं छायावाद, पृ० ८०

---